Chap-6

# षष्ठ अध्याय

# महानगरीय परिवेश : अजनबीपन (एलीनियेशन) और अन्य समस्याएँ

## :: षष्ठ अध्याय ::

## :: महानगरीय परिवेश : अजनबीपन (एलीनियेशन) तथा अन्य समस्याएँ ::

### प्रास्ताविक :

भौतिकता, भोगपरस्ती, वैयक्तिक चेतना, व्यक्ति का अपनी ज़मीन, अपने समाज, अपने परिवेश और परिवार से निरंतर टूटते जाना, इन सब कारणों से आज का मनुष्य जन-अरण्य में खो गया है। कमलेश्वर का एक उपन्यास है — "समुद्र में खोया हुआ आदमी" — यह उपन्यास वस्तुतः आज के महानगरीय परिवेश के मनुष्य के बिंब को स्थापित करता है। आज का मनुष्य टूट रहा है, बिखर रहा है, छिन्न-भिन्न हो रहा है। वस्तुतः वह अपनी पहचान और अस्मिता खो रहा है। वस्तुतः प्रौद्योगिक, धर्मनिरपेक्ष और वस्तुपरक समाज व्यक्ति के जीवन में खालीपन उभारता है। इसमें व्यक्ति की अस्मिता खो जाती है और व्यक्ति अपने को एक इकाई के रूप में नहीं अनुभव

कट जाता तथा वहीं शक्तियाँ विपरीत दिशा में कार्य करने लगती हैं। परिणामतः जो भी घटित होता है उस पर उसका कोई नियंत्रण नहीं रह पाता। ऐसा नहीं है कि इन स्थितियों में व्यक्ति समाज तथा अन्य व्यक्तियों से कट जाता है और उनसे दूर होता जाता है, प्रत्युत वह अपने आप से भी कट जाता है, अपने आप से भी दूर होता जाता है। एक प्रकार की मूल्यहीनता और खालीपन उसके अस्तित्व को लीलने लगता है ** । उसे निरर्थकता का बोध होता है।

कदाचित् संसार के इतिहास में पहली बार ऐसा हुआ है, कि मनुष्य प्रकृति, ईश्वर और समाज से कट गया है और इसीलिए वह स्वयं के लिए भी एक समस्या बना हुआ है। यह कितनी बड़ी विडंबना है, कितनी बड़ी विचित्रता है कि मनुष्य एक तरफ तो दूसरे ग्रहों पर बसने की योजनाएँ बना रहा है, पर उसका अपना संसार रेत की तरह रहा है। दुनिया सिमट रही है। "ग्लोबल-विलेज" की बातें हो रही हैं। ऐसी स्थिति में तो हमारा हमारी दुनिया से परिचय और अधिक घनिष्ठता से जुड़ना चाहिए; परंतु ऐसा हो कहाँ रहा है? एक तरफ मनुष्य पूरे विश्व से परिचित है, विश्व के रहस्य उसे हस्तामलकवत् है, पर दूसरी तरफ वह अपने पड़ोसी को नहीं जानता है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के द्रुत विकास से मनुष्य अपने गाँव, कस्बे और शहर से दूर हो रहा है। इस वैज्ञानिक संघात से नये संबंध बन रहे हैं, परन्तु वह पूर्णतया उससे जुड़ नहीं पा रहा है और पारंपरिक रिश्ते दम तोड़ रहे हैं। वे अर्थहीन और निराधार हो रहे हैं। मशीनीकरण, वस्तुपरकता, आपसी प्रतिस्पर्द्धा और भीषण भागदौड़ और आपाधापी से यह संसार आकृतिविहीन हो रहा है और निराकार संसार से मनुष्य किसी प्रकार का रागात्मक संबंध नहीं जोड़ पा रहा है। इसी असमर्थता से जो बोध पैदा होता है

उसे ही अजनबीपन कहते हैं । प्रस्तुत अध्याय यह तथा कुछेक अन्य महानगरीय परिवेश से संलग्नित समस्याओं पर आलोच्य उपन्यासों को आधार बनाकर विचार करने का हमारा उपक्रम है ।

## अजनबीपन की अवधारणा :

अजनबीपन की भावना आधुनिक महानगरीय जीवन की एक बहुचर्चित, जटिल तथा बहुमुखी समस्या है । इसका अर्थ यह कतई नहीं की यह समस्या केवल महानगर की ही है, बल्कि गांव, कस्बा और नगरों में भी यह समस्या बढ़ रही है । तभी तो डा. रामदरश मिश्र के उपन्यास " जल टूटता हुआ " का नायक सतीश कह रहा है :

" गांव टूट रहा है, मूल्य टूट रहे हैं, सत्य टूट रहा है, कोई किसी का नहीं, सब अकेले हैं, एक-दूसरे के तमाशाई, यही क्यों सबका ठेका लिए फिरे ? " सतीश का यह भोगा भोग कइयों का भोगभोग है । सतीश उत्तर-अंचल के तिवारीपुर गांव का है । अतः जरूरी नहीं कि यह बोध महानगरीय जीवन का ही अंग बने । यदि मधुकर के उपन्यास "सफेद मेमने " में तो राजस्थान के दूरदराज की जैसलमेर जिले की कुछ ढाणियों को चित्रित किया गया है, पर उसमें भी कई पात्रों में यह भाव परिलक्षित किया जा सकता है । अभिप्राय यह कि महानगरीय जीवन में यह प्रमुखता से उभर रहा है ।

"अजनबीपन" शब्द अंग्रेजी भाषा में प्रयुक्त शब्द "एलिएनेशन" ( Alienation ) का समानार्थी है । एलिएनेशन " के पर्याय रूप में कई शब्द प्रयुक्त होते रहे हैं, जैसे - अलगाव, परायापन, निर्वासन, बिलगाव, स्वत्व-अंतरण, एकाकीपन, बेगानापन, विरानापन, उखड़ापन, विदेशीपन इत्यादि । किन्तु उपर्युक्त सभी शब्दों की तुलना में

अतः "अजनबीपन" शब्द "एलिएनेशन" के अधिक निकट का प्रतीत होता है । यह "एलिएनेशन" शब्द के मूल में लैटिन शब्द "एलीनेशियानम" ( Alienationem ) से व्युत्पन्न हुआ है । इससे फ्रेन्च में " एलिनेसियान " और अंग्रेजी में "एलिएनेशन" शब्द व्युत्पन्न हुए । वस्तुतः लैटिन का "एलिनेशियानम" ( Alienationem ) शब्द लैटिन के ही "एलाइनस" ( Alienous ) से जुड़ा है । "एलाइनस" का अर्थ है — दूसरा व्यक्ति या दूसरा स्थान । इससे मिलता-जुलता एक और शब्द है — "एलियस" ( Alius ) जिसका तात्पर्य है — पराया या दूसरे का ।[2]

इसका तात्पर्य यह हुआ कि जब कोई व्यक्ति अपने मूल परिवेश से अलग होता है तो वह स्वयं को दूसरों से अलग-थलग पाता है । उसमें थोड़ा अटपटापन महसूस करता है । मनुष्य तो क्या वनस्पति तक में यह पाया जाता है । "आपका बण्टी" उपन्यास में शकुन जब डा० जोशी से पुनर्विवाह कर लेती है, तब अपने निवास-स्थान के बंगले से कुछ पौधे उखाड़कर अपने साथ ले जाती है । उन पौधों को डा० जोशी के बंगले के गार्डन में लगाया जाता है । शुरू के कुछ दिनों में वे पौधे कुछ मुरझाये हुए-से लगते हैं, तब शकुन बंगले के माली से पूछती है कि ये पौधे मुरझाये हुए क्यों लगते हैं ? उसके उत्तर में माली कहता है कि मैडम इन पौधों को उनकी ज़मीन से उखाड़ा गया है, अतः इस नयी ज़मीन में जड़ पकड़ने में उनको थोड़ा समय तो लगेगा ही ।[3]

अभिप्राय यह कि जब वनस्पति तक में इस प्रकार की भावना पाई जाती है तो मनुष्य तो और भी अधिक संवेदनशील प्राणी है । एक स्थान से उखड़ जाने का दुःख उन्हें भी होता है । हमारी लोक-परंपरा में प्रेमी या पति को "परदेसिया" क्दाचित इसीलिए कहा गया होगा । विवाह के समय लड़की को अपने प्रिय पात्र ( यदि

विवाह उसकी पसंद से हुआ है या उसकी रजामंदी से हुआ है। ( से मिलने का, उससे संलग्नित होने का उमंग-उत्साह तो होता है, पर साथ ही अपने बाबुल से, अपने परिवेश से बिछड़ने का दुःख भी होता है। अभिप्राय यह कि व्यक्ति जब एक स्थान से उखड़ जाता है, तो दूसरे स्थान पर उसे एक प्रकार का परायापन दिखता है। वह उस नये परिवेश में स्वयं को "अजनबी" अनुभव करता है। उषा प्रियंवदा ने अपने उपन्यास " रुकोगी नहीं राधिका ? " में जो "कल्चरल शॉक" की बात कही है, वह इसी "अजनबीपन" के परिप्रेक्ष्य में है।[4]

जो लोग अपना देश छोड़कर विदेशों में चले जाते हैं, उन्हें शुरू-शुरू में तो वहाँ अजनबीपन लगता है, पर जब वे वहाँ स्थायी हो जाते हैं, तब शनैः शनैः यह भाव दूर होने लगता है और वे वहाँ के परिवेश से एक प्रकार का अनुकूलन स्थापित कर लेते हैं। परंतु "वे दिन" के अनाम नायक तथा उसके बर्मी मित्र टी.टी. की स्थिति तो वहाँ भी विचित्र है। विदेशी होने के नाते प्राग में उनकी गणना अजनबियों में होती है और उनके अपने देश में भी प्रायः उनको अजनबी ही करार दिया जाए। उनके अपने शब्दों में :

" हम ऐसे लोगों में हैं घर छोड़कर चले आये थे, जब बचपन का संबंध उससे छूटजाता है और बड़ेपन का नया रिश्ता जुड़ नहीं पाता। अब घर बहुत अवास्तविक-सा जान पड़ता था, जैसे वह किसी दूसरे की चीज़ हो, दूसरे की स्मृति। ... वह अब अर्थहीन था -- और किंचित हास्यास्पद भी। "[5]

इस प्रकार उपन्यास का नायक तथा टी.टी. यहाँ दो-तरफे अजनबीपन के शिकार हैं। यह भाव उनको दोनों तरफ से तोड़ता है, कचोटता है, खोखला करता है। इसके कारण ही नायक अपनी बहन की चिट्ठी को पढ़ने-पढ़ने दिनों तक नहीं पढ़ता। टी.टी. भी अपनी माँ से कट गया है। नायक रायना

से प्रेम करने लगता है । वह उससे भावनात्मक स्तर पर भी जुड़ता है । पर यह जुड़ना भी एक-तरफा है । नायक की तरफ से रायना की तरफ से नहीं । रायना के लिए तो वह एक "रूटीन वर्क" है । वह इस समूची प्रक्रिया में निस्संग और निरपेक्ष रहती है ।

डा. रमेशकुंतल मेघ ने "अजनबीपन" की चर्चा करते हुए लिखा है कि आजकल इसे हेगेलीय के बजाय मार्क्सीय तथा अस्तित्ववादी सन्दर्भों में प्रयुक्त किया जा रहा है, जिसके दो तात्पर्य हैं -- /1/ निर्वासन (एस्ट्रेंजमेण्ट) तथा /2/ पदार्थीकरण (रिइफिकेशन) । पहली एक सामाजिक-मनोवैज्ञानिक स्थिति है जिसमें व्यक्ति अपने समाज या समूह या संप्रदाय से दूरी, अलगाव या अपनत्व के ह्रास का अनुभव करता है और दूसरी स्थिति दार्शनिक है, जिसमें व्यक्ति एक पदार्थ या वस्तु हो जाता है तथा अपनी निजता खो बैठता है ।[6]

"वे दिन" के नायक में वह प्रथम वाली स्थिति दृष्टिगोचर होती है । वह भी अपने घर-परिवार, समाज और परिवेश से कट गया है । "टेराकोटा" की मिति, "पचपन खंभे लाल दीवारें" की सुषमा, "नावें" की मालती, "अपने लोग" के प्रोफेसर, "अठारह सूरज के पौधे" का अनाम नायक आदि पात्र डा. मेघ द्वारा निर्देशित प्रथम प्रकार की स्थिति में आते हैं ।

दूसरे प्रकार की स्थिति है व्यक्तिका पदार्थीकरण । उसका बढ़िया उदाहरण हमें रामायण की अहल्या में मिलता है । अहल्या कोई पत्थर की शिला में परिवर्तित नहीं हुई थी । वस्तुतः अत्याचार और अपमान की तिक्तता के कारण, अपने ही लोगों द्वारा प्रताड़ित होने पर वह जड़ीभूत हो जाती है । यही पदार्थीकरण है । व्यक्ति अपनी निजता खो देता है । "कड़ियाँ" उपन्यास की प्रमिला भी जड़ीभूत होकर पागल हो जाती है ।

" द आउटसाइडर" के लेखक कालिन विल्सन अजनबीपन को सामाजिक समस्या मानते हैं । उनके मतानुसार सत्य पर आरूढ़ या सत्य के लिए आग्रही , व्यक्ति कई बार स्वयं को अजनबी मानता या समझता है , क्योंकि वह चीजों को गहराई से देखना चाहता है , परम सत्य का साक्षात्कार करना चाहता है , उसकी दृष्टि मूल्याग्रही होती है , अतः दूसरे सतही प्रकार के लोगों से वह अलगाव महसूस करता है । कदाचित् यही कारण है कि अति-संवेदनशील व्यक्ति के भीतर अजनबीपन की भावना तेजी से उभरती है ।

नरेश मेहता कृत " यह पथ बंधु था " का श्रीधर इसी कारण अलगाव की स्थिति में आ जाता है । श्रीधर के जीवन की असफलता और सरस्वती के जीवन की दुखदायक त्रासदी का कारण यही कि वह [श्रीधर] परिस्थितियों के साथ समझौता नहीं कर पाता । वह अपने राज्य के इतिहास पर एक पुस्तक लिखता है । शिक्षा-विभाग का अधिकारी उसमें कुछ संशोधन चाहता है । श्रीधर की आत्मा को यह स्वीकार नहीं । अतः वह नौकरी से त्यागपत्र दे देता है और उसका समूचा परिवार एक भयंकर त्रासदी से गुजरने पर विवश हो जाता है । [7]

डा. नेमिचन्द्र जैन इस संदर्भ में लिखते हैं :" अपने प्रति सच्चा और सहज होना जीवन-संघर्ष के लिए अपर्याप्त ही नहीं , बल्कि एक प्रकार की अयोग्यता है । जीने के लिए , किसी प्रकार की सफलता , उपलब्धि या परिपूर्णता के लिए आत्मविज्ञापन और आत्मप्रक्षेपण का असीम सामर्थ्य चाहिए । हलके से हलके और छोटे से छोटे स्तर पर भी किन्हीं मूल्यों के प्रति सजग और संवेदनशील होकर सुखी हो सकना प्रायः असम्भव है ।" [8]

"पतझड़ की आवाजें " की अनुभा तथा सुनीता इसी प्रकार के फ्रस्ट्रेशन का शिकार हैं । उनसे कम योग्यता वाली

उधर प्रमोशन पा जाती है और ये लोग सफलता की दौड़ में पीछे छूट जाते हैं, क्योंकि ये अपनी आत्मा के साथ किसी प्रकार का समझौता नहीं कर पातीं। यदि वे भी सी.के. के साथ की कठपुतलियाँ बनने का उद्यत रहतीं, तो आगे बढ़ सकती थीं।

जेम्स जायस अजनबी व्यक्ति के संदर्भ में बताते हैं कि वह संसार की गतिविधियों से निराश और हताश होता है। अतः विषाद में डूबा रहता है। दूसरों की हंसी या खिलखिलाहट से वह ऊबता और चिढ़ता है। वह सोचता है कि ऐसी आत्मघाती परिस्थितियों में भी कोई व्यक्ति कैसे प्रसन्न रह सकता है। उसकी स्थिति कबीर-सी होती है :

"सुखिया सब संसार है, खाएं और सोएं।
दुखिया दास कबीर है, जागें और रोएं।" [9]

और इसी तनाव के चलते वह प्रतिदिन यहाँ से वहाँ चक्कर काटता रहता है कि शायद उसे कहीं सकून मिल जाय। [10] इस प्रकार अजनबी या "आउटसाइडर" वह है जो अपने अस्तित्व से भी अपरिचित रहता है। "अठारह सूरज के पौधे" का नायक तथा "शेखर : एक जीवनी" का शेखर इस कोटि में आते हैं।

अतिबौद्धिकता भी व्यक्ति में अजनबीपन का भाव जगाती है। अतिशय बौद्धिकता के कारण वह स्वयं को दूसरों से अलग पाता है। वह संसार को बुद्धि से आंकना चाहता है, तौलना चाहता है। पर मनुष्य केवल बुद्धि नहीं है, वह हृदय भी है, मन भी है। अतः बौद्धिकता की अतिशयता में वह अकेला होता जाता है और कुछ-कुछ "इगोइस्ट" भी हो जाता है। "अंधेरे बन्द कमरे" का हरबंस, तथा "आपका बण्टी" की शकुन, "बैसाखियों वाली इमारतें" का नायक, "कोहरे" का सुनील, "रेत की मछली" का शोभन आदि ऐसे इगोइस्ट चरित्र हैं।

वस्तुतः अजनबी व्यक्ति निश्चित नहीं होता कि वह कौन है ? उसकी सबसे बड़ी समस्या उस रास्ते की खोज होती है जिसके द्वारा वह अपनी खोयी हुई अस्मिता प्राप्त करेगा । कालिन विल्सन इसी बात के स्पष्टीकरण के लिए नीत्शे के "ज्वायफुल विजडम" का उदाहरण देते हैं जो अजनबी व्यक्ति की मानसिक बुनावट को उद्-घाटित करता है : " यह जीवन किसलिए हैं ? मरने के लिए ? आत्महत्या करने के लिये ? नहीं मैं डरता हूँ । तब क्या मुझे तब तक प्रतीक्षा करनी चाहिए जब तक मृत्यु स्वयं नहीं आ जाती ? मैं इससे भी ज्यादा भयभीत हूँ । तब मुझे जरूर जीना चाहिए । लेकिन किसलिए ? क्या मरने के क्रम में ? और मुझे इस चक्र से छुटकारा नहीं मिल सकता है ? मैं पुस्तक लेता हूँ, और क्षण भर के लिए स्वयं को भूल जाता हूँ । लेकिन फिर वही प्रश्न और वही आतंक सामने आ जाता है । मैं लेट जाता हूं और आँखें बंद कर लेता हूँ, इसके बाद भी यह सबसे बुरी स्थिति है ।" 11

अजनबीपन की अवधारणा को स्पष्ट करने का यत्न हीगेल ने अपनी पुस्तक " द स्पिरिट आफ क्रिश्चियानिटी एण्ड इट्स फेट " में किया है । इसमें यहूदी धर्म की कटु आलोचना करते हुए वे कहते हैं कि यह सर्वशक्तिमान ईश्वर के नाम पर व्यक्ति को पूर्णतया उसका गुलाम बना देता है । एक तरफ सर्वशक्तिमान निरंकुश ईश्वर है और दूसरी तरफ उससे अलग कटे हुए दुनिया के लोग हैं । हीगेल का कहना है कि क्राइस्ट की शिक्षाओं की कोशिश मनुष्य और ईश्वर के बीच के अलगाव को प्रेम के सहारे पाटने की रही है । उन्होंने धर्म को एक ऐसी धार्मिक बौद्धिक चेतना में रूपान्तरित करके देखा है जहाँ मनुष्य और ईश्वर का एकत्व स्थापित हो जाता है । उनके अनुसार इस तरह के ईश्वर के निरंकुश रूप की स्वीकृति और उपस्थिति अजनबीपन के मूल में है और इस अजनबीपन से

मुक्ति उस परम चेतना में है जहाँ ईश्वर और मनुष्य का एकत्व स्थापित हो जाता है।" [12]

लुडविग फायरबाख (1804–1872) ने अजनबीपन को धर्म-निरपेक्ष वस्तुपरकता देने का प्रयास किया है। उन्होंने अपनी महत्व-पूर्ण कृति "द इसेन्स आफ क्रिश्चियानिटी" में धर्म पर तीखा प्रहार किया और कहा कि धर्म मनुष्य को उसके स्वत्व से अलग कर अजनबी बना देता है। उन्होंने ईसाई विश्वासों पर सशक्त और तर्कपूर्ण ढंग से चोट की और जोर देकर कहा कि धर्म का आदि और अन्त मनुष्य ही है। फायरबाख का महत्व इस बात में है कि उन्होंने हेगेल के दर्शन की अपर्याप्तता, उसके खोखलेपन और आदर्शवादी रुझान के खिलाफ बहुत बड़ा प्रश्नचिन्ह लगा दिया। [13]

फायरबाख के चिन्तन ने परवर्ती मार्क्सवादी चिंतन को भी प्रभावित किया है। उनके पश्चात् कार्ल मार्क्स (1818–83) ने अजनबीपन की अवधारणा को एक नया आयाम दिया। मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था में श्रमिक को वस्तु या पदार्थ के स्तर पर उतार दिया जाता है। श्रमिक धन का उत्पादन करता है, फिर भी वह गरीब रहता है। वह उत्पादक है, पर उसकी स्थिति दयनीय होती है। डा. शिवमंगलसिंह सुमन की निम्नलिखित पंक्तियाँ यहाँ संदर्भनीय हैं :

" क्या मिला मुझे मेरी मेहनतका सिला
चन्द सिक्के चांदी के हाथ के छालों की तरह। " [14]

वस्तुतः श्रमिक कमाते हैं, खून-पसीना बहाते हैं, पर उसके सारे श्रम का फायदा पूंजीपति लोग उठाते हैं। डाक्टर साहब की एक क्षणिका का यहाँ बरबस स्मरण हो रहा है :

" कहते हैं लक्ष्मीपति विष्णु के हजार हाथ होते हैं
अब कुछ लोग इसी बात पर रोते हैं
कि भला एक व्यक्ति के हजार हाथ कैसे हो सकते हैं ?

पर ज़रा देखिये अपने आसपास
क्या कोई लक्ष्मीपति मज़ूर नज़र आता है ?
जो दो हाथ से कमाता
और दो हाथ से खाता है ।" [15]

अभिप्राय यह कि पूंजीपति के लिए हजार-हजार हाथ कमाने वाले हैं । पर इन कमाने वालों को क्या मिलता है ? दो जून की रोटी और दो लत्ते भी उन्हें मुश्किल से मुहैया होते हैं । अतः ऐसे श्रमिक में एक प्रकार का अजनबीपन का भाव विकसित होता है । इस संदर्भ में मार्क्स की अवधारणा है : " जैसे-जैसे वस्तुओं के संसार में मूल्यगत वृद्धि होती है , मानवीय संसार का अवमूल्यन होता जाता है । मनुष्य श्रम के द्वारा उत्पादित वस्तु और उसका उत्पादन अजनबी करने वाली वस्तु के रूप में उसके सामने आने लगता है । इस प्रकार वस्तु की दूसरों के लिए बढ़ती उपयोगिता उसके लिए अजनबीपन के रूप में उभरती है । यह श्रम श्रमिक से परे पूर्ण स्वतंत्रता के साथ वस्तुओं के रूप में अपना अस्तित्व रखता है जो उसे अजनबी करने वाली स्वचालित शक्ति के रूप में उसके और उसकी वस्तुओं में विरोध पैदा करता है । इस तरह एक श्रमिक अपने को अजनबी महसूस करता है । यह अजनबी श्रम मनुष्य को उसके मानव शरीर से , प्रकृति से , उसके अपने आत्मिक तत्त्व मनुष्यत्व से अजनबी कर देता है ।" [16]

हेगेल , फायरबाख और मार्क्स की त्रयी और उनकी परंपरा के अन्य विचारकों से अलग व्यक्तिवादी चेतना को केन्द्र में रखकर कुछ अन्य चिंतकों ने इस समस्या को एक दूसरे नज़रिए से रखने की चेष्टा की है । कीर्केगार्द ( 1813-55 ) इस दूसरी परंपरा के प्रमुख विचारक हैं । कीर्केगार्द के अतिरिक्त इस परंपरा में उपन्यासकार दोस्तोएवस्की , पैट्रिक मास्टर्सन , सार्त्र , जार्ज सिमेल , पीटर लेस्लेट ,

लूइस मम्फोर्ड , इरिक फ्राम , थियोडोर रोजक , अर्नेस्ट वान, राबर्ट मैकफर प्रभृति चिंतक आते हैं । इनमें दोस्तोएवस्की और सार्त्र साहित्यकार और चिंतक दोनों हैं , अन्य चिंतक हैं ।

कीर्केगार्द इस परंपरा के प्रमुख विचारक हैं । समूह में व्यक्ति अपना अस्तित्व खो देता है , यह उनकी दृष्टि में परम निंदनीय है । इस दृष्टि से वे हेगेल के बिलकुल विपरीत हैं । हेगेल समस्त संसार को प्रधानता देते हैं , उसमें एक मनुष्य की गणना कुछ नहीं है । किन्तु साथ ही व्यक्ति को ईश्वर के स्तर तक उठा देते हैं । कीर्केगार्द इसे एक उपहास की संज्ञा देते हैं । कीर्केगार्द के मतानुसार यह संसार मनुष्य के लिए बेमानी है , एब्सर्ड है और हमेशा बेमानी [एब्सर्ड] रहेगा । इस संदर्भ में कालिन विल्सन की टिप्पणी है कि कीर्केगार्द का विरोध दुखों और कष्टों के विरुद्ध खुला विद्रोह था और उसने अमूर्तता [ एब्स्ट्रैक्ट ] और निर्वैयक्तिकता के खिलाफ अपनी जोरदार आवाज उठाई ।[17]

इस श्रृंखला के दूसरे महत्वपूर्ण चिंतक कीर्केगार्द के समकालीन उपन्यासकार दोस्तोएवस्की हैं । उनका समय सन् 1821 से 1881 का है । दोस्तोएवस्की के उपन्यासों में निरूपित मनुष्य की जिजीविषा बड़ी प्रबल है । भयंकर भारत स्थितियों के बीच भी वे पात्र उनकी तमाम परतों को भेदकर बाहर निकल आते हैं । दोस्तोएवस्की के अनुसार संत्रास , अमानवीयता और अन्याय की स्थितियों से अजनबी-~~xxxxx~~पन का बोध उभरने लगता है और धीरे-धीरे मनुष्य की प्रबल जिजीविषा उस पर हावी होकर व्यक्ति को इस दुनिया से बेगाना बना देता है । इस प्रकार व्यक्ति के टूटने और अजनबी होने की स्थिति को दोस्तोएवस्की ने "नोट्स फ्राम अण्डरग्राउण्ड ", "मैमायर्स आफ डेड हाउस " , "क्राइम एण्ड पनिशमेण्ट " तथा "इडियट " आदि अपनी कृतियों में बड़ी सघनता और कल्पनामयी दृष्टि के साथ चित्रित किया है । कालिन विल्सन ने दोस्तोएवस्की

स्वयं को एक "इण्टलैक्चुअल आउटसाइडर " कहा है और उनकी कृति "प्राइस एण्ड पनिशमेण्ट " को अजनबी व्यक्ति पर लिखी गयी सर्वश्रेष्ठ रचना माना है । "द इडियट " का केन्द्रीय पात्र मिश्किन भी अजनबी है ।[18]

विज्ञान के विकास के कारण , विशेषतः कोपरनिकस , ×गैलाह गैलीलियो , न्यूटन , डार्विन आदि वैज्ञानिकों के प्रयासों के फलस्वरूप , ईश्वर का संदर्भ क्रमशः वैज्ञानिक संसार से दूर होता गया । और इस प्रकार सर्वप्रथम नीत्शे ( 1844-1900 ) ने अपने ग्रन्थ " दस स्पेक जरथुस्त्र " में बड़े काव्यात्मक ढंग से ईश्वर के मौत की घोषणा कर दी ।

पैट्रिक मास्टर्सन ने ईश्वर के इस निषेध को एक महत्त्वपूर्ण घटना के रूप में लिया है । विलियम बैरेट ने भी इसमें अपना सुर मिलाते हुए कहा धर्म का इन्कार हमारे आधुनिक इतिहास का एक केन्द्रीय तथ्य है । उनकी मान्यता के अनुसार धर्म के इस इन्कार से मनुष्य इस संसार की विवेकहीन वस्तुपरकता का सामना करने के लिए स्वतंत्र हो गया । वह इस संसार में स्वयं को बेघर ( अनिकेतन) समझने पर मजबूरx मजबूर हो गया जिसमें उसके आत्मा की पुकार के उत्तर के लिए कोई अवकाश नहीं था ।[19]

अस्तित्ववादी चिंतकों में प्रमुख ऐसे सार्त्र ने अजनबी की समस्या पर गंभीर दार्शनिक चिंतन किया है । सार्त्र का समय सन् 1905 से 1980 का है । "अस्तित्ववाद और मानववाद" नामक उनका व्याख्यान ( 1946) इस संदर्भ में हमेशा चर्चित रहेगा । सार्त्र के अनुसार व्यक्ति अपने जीवन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है । वे मानते हैं कि मानव-जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप , सबसे बड़ी चुनौती मृत्यु है । जन्म के साथ मृत्यु अनिवार्य रूप से सम्बद्ध है । मनुष्य इसके लिए कुछ नहीं कर सकता । और यहीं वह देखता है कि उसे वरण ( choose ) करने की स्वतंत्रता नहीं । अतः

उसे अत्यन्त कम समय में अपने व्यक्तिगत जीवन को एक अर्थ देना है ।[20] अस्तित्ववाद के अनुसार जीवन की तीव्रतम अनुभूति मृत्यु के साक्षात्कार के क्षणों में होती है और वह इस मृत्यु की पूर्व-कल्पना बिना आत्महत्या के, मृत्यु के समीपस्थ होकर अक्रि उसकी शीघ्र संभाव्यता तथा अनिश्चितता के बीच करता है । "सिक्स एक्जिस्टेन्शीयलिस्ट थिंकर्स" में कहा गया है :

" I anticipate death not bey suicide but by living in the presence of death always Immediately possible and us Uudetermining everithing. " [22]

अज्ञेय ने अपने अस्तित्ववादी उपन्यास "अपने अपने अजनबी" में बर्फ के तले तम्बू में कैद योके और सेल्मा द्वारा इस प्रकार का मृत्यु-बोध कराया है ।[22] प्रायः लोग सोचते हैं कि परिस्थितियाँ हमारे प्रतिकूल रही हैं । जो मैं रह चुका हूँ और कर चुका हूँ — मेरे सही मूल्य को नहीं प्रकट करता है । यह निश्चित है कि मुझे कोई महान प्रेम, महान मित्रता नहीं मिली है । लेकिन यह इसलिये है कि मुझे कोई पुरुष या स्त्री इस योग्य नहीं मिल सके । मुझे ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिला जिसके साथ मैं अपनी जिन्दगी गुजार सकता ।[23] परन्तु बहुधा लोग अपनी असफलता और निकम्मेपन को छिपाने के लिए इस प्रकार की बातें करते हैं । सार्त्र का कहना है कि अस्तित्ववाद इस तरह की बकवासों को महत्व न देते हुए स्पष्ट रूप से घोषणा करता है कि तुम अपने जीवन के अलावा और कुछ नहीं हो, मनुष्य कार्यों की एक परंपरा से अलग दूसरी चीज नहीं है यानी वह उन संबंधों के योगफल का एकीकरण है जो इन कार्यों का निर्माण करता है । यह कहना कि हम मूल्यों का आविष्कार करते हैं, इसका इसके सिवाय कोई अर्थ नहीं है कि जीवन का कोई अर्थ नहीं है । यह तुम्हारे ऊपर है कि तुम इसे एक अर्थ प्रदान करो ।[24]

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि अस्तित्ववादी चिंतक मानव-संसार की अपेक्षा किसी दूसरे संसार को नहीं मानता । उसके लिए सिर्फ " इस पार " ही होता है, "उस पार " की बात को वह नहीं मानता । व्यक्ति के अलावा नियमों को बनाने वाला और कोई नहीं है । अतः यह वाद मनुष्य के आसपास फैले अंधविश्वास और अज्ञान के झूठे जालों को और भ्रान्तियों को दूर करता है । वस्तुतः भ्रान्ति के सहारे ही आज मनुष्य जीता है । जब ये भ्रान्तियां दूर हो जाती हैं, तब मनुष्य नितांत एकाकीपन का भाव महसूस करता है । इस एकाकीपन के पीछे से अजनबीपन की कई स्थितियां जन्म लेती हैं ।

अजनबीपन की भावना के पीछे प्रौद्योगिकी के द्रुत विकास का संकेत अनेक विद्वानों ने दिया है । इनमें जार्ज सिमेल, लुईस मम्फोर्ड, पीटर लैस्लेट, थियोडोर रोजेक आदि मुख्य हैं । जार्ज सिमेल एक समाजशास्त्री हैं । उनका मत है कि शहरी संस्कृति रुपये-पैसे की संस्कृति है । फलतः धन अपनी सारी रंगहीनता और निष्पक्षता के साथ तमाम जीवन-मूल्यों का निर्धारक और निर्णायक तत्व बन जाता है । इसका सीधा प्रभाव यह हुआ कि मनुष्य व्यक्तित्वहीन हो गया । मनुष्य की स्थिति दैत्याकार मशीनों के बीच मात्र चक्के के दांते-सी रह गई । यहाँ जिन दशाओं में मनुष्य काम करता है और अवकाश प्राप्त करता है, वे स्थितियां उसे अजनबीपन की ओर ले जाती हैं । शिशावी जगत में मनुष्य बुद्धिप्रधान हो जाता है और मानव-संवेदनाओं के लिए बहुत कम अवकाश रह जाता है ।[25]

" पीटर लैस्लेट ने इस समस्या को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखा है । औद्योगिक पूर्व स्थिति की पैतृक परंपरा वाली उत्पादन प्रणाली का उन्होंने विवेचन करके दिखाया है कि छोटे-छोटे व्यव-सायों में पारिवारिक प्रेम और स्नेह का वातावरण रहता था ।

औद्योगिक क्रान्ति के बाद इस तरह के पारिवारिक उद्योग-धंधे खत्म हो गये और फिर पनप नहीं पाये । मशीन निर्मित वस्तुओं ने हर क्षेत्र में हाथ की बनी वस्तुओं को पीछे ढकेल दिया । धीरे-धीरे पारिवारिक वातावरण खत्म हो गया और उसकी जगह अन्याय व शोषण की प्रधानता हो गई । भावनात्मक लगाव समाप्त हो गया । औद्योगिक समाजों में श्रम के बदले पैसा मिलने लगा जिससे श्रमिक की जिन्दगी बाजार के भावों के बढ़ने के साथ-साथ सलीब पर चढ़ती रही क्योंकि वेतन के रूप में निश्चित राशि मिलती थी ।[26]

आधुनिक मशीनी -सभ्यता के दोषों की ओर संकेत मम्फोर्ड भी करते हैं :

" औद्योगिक संगठनों की बुद्धि मशीनी नियमितता का जाल बुन देती है । इस मशीनी-सभ्यता सभ्यता का अस्तित्व पूर्णतया समय से बंधा हुआ नियमित और पूर्व-निर्धारित है । इसका मनुष्य के कार्य-कलापों पर निरंकुश शासन मनुष्य के अस्तित्व को समय के सेवक के रूप में सीमित कर देता है और मानवीय व्यवहारों के अति विस्तृत दायरे को फैलाने की सीमा में बांध देता है । बंधनों की यह जकड़न स्वस्थ मन के लिए हानिकारक और नुकसानदेह है । ... इस प्रकार के यांत्रिक कार्यक्रम को किसी भी कीमत पर बनाए रखने पर लोग "अनुशासन के तनाव " से पीड़ित हो सकते हैं । आज के जीवन की गति आधुनिक संचार के साधनों से उत्तेजित हो गई है । उसकी लय टूट चुकी है । बाहरी संसार की उत्तरोत्तर बढ़ती प्रभुत्वबोधक मांगों से आंतरिक संसार अत्यन्त कमजोर और आकृतिविहीन होता जा रहा है ।" [27]

इरिक फ्राम "द रिवोल्यूशन आफ होप " में यहां तक कहते हैं कि यह तकनीकी विकास मानवीय मूल्यों के नकार पर प्रतिष्ठित है । थियोडोर रोजक ने विज्ञान और वैज्ञानिक सभ्यता पर सीधा

और तीखा प्रहार किया है । अर्नेस्ट वान डैन हाग आधुनिक पूंजीवादी सभ्यता को विज्ञापनजीवी सभ्यता मानते हैं । विज्ञापन लोगों की अभिरुचियों में एकरूपता लाता है और इस प्रकार उसका निर्वैयक्तिककरण करता है । यहां ग्राहक को भीड़ के रूप में देखा जाता है । उसकी वैयक्तिक रुचियों की चिन्ता यहां बिलकुल नहीं है । अतः मनुष्य की पहचान खो जाती है और वह एक बिना चेहरे का मानव-प्राणी हो जाता है । ये स्थितियां उसे अन्ततः अजनबीपन की ओर ले जाती हैं । [28]

रार्बट मैकल्वर ने भी इस विषय पर काफी चिंतन किया है । उनके विचार इस प्रकार हैं :

" अजनबी व्यक्ति ज्यादा संवेदनशील प्रकृतिवाले और प्रतिभाशाली होते हैं । वे चाहते हैं कि उनके जीवन का कुछ अर्थ हो , कुछ लक्ष्य हो तथा अपने जीने के पीछे किसी अच्छे उद्देश्य की प्रतीति हो । लेकिन प्रायः इस प्रकार की सोद्देश्यता खोजनेवालों के साथ किसी-न-किसी प्रकार की गड़बड़ हो जाती है । ऐसे व्यक्ति जीवन में ऊंचा लक्ष्य तो रखते हैं किन्तु उनका लक्ष्य उनकी पहुंच से दूर रहता है । और जब वे उसमें असफल होते हैं , अपने विभ्रमों में और वृद्धि कर लेते हैं । उनका असंतुष्ट , आहत , प्यासा , अहं पीछे ढकेल दिया जाता है और उनके आगे विराट खालीपन धीरे-धीरे पसरने लगता है । अजनबी व्यक्ति इससे भागना चाहता है और इस भागने में वह स्वयं से भागने लगता है ।" [29]

इस प्रकार जिनके सामने एक विराट खालीपन होता है , उनमें यह अजनबीपन का भाव विकसित होता है । अतः एक प्रकार का पलायन उनमें पाया जाता है । ऐसे लोग जुआ खेलने लगते हैं, नशा करते हैं , फैशन की भीड़ में अपने को खो देना चाहते हैं , अटपटे काम करने लगते हैं ताकि जीवन की एकरसता भंग हो और उन्हें किसी प्रकार के उल्लास का अनुभव हो । पर इस प्रकार के

आकर्षणों का सहारा लेकर भी लोग उस खालीपन से भाग नहीं पाते और इस दुनिया में अपने को अजनबी महसूस करने के लिए विवश हो जाते हैं।[50]

"वे दिन" का अनाम नायक, टी.टी., जाक, रायना आदि सभी इस अजनबीपन के शिकार हैं और इसलिए शराब के नशे में डूबे रहते हैं। "अठारह सूरज के पौधे" का अनाम नायक, "डाक बंगला" का विमल आदि ऐसे पात्र हैं। ऐसा नहीं कि यह अजनबीपन महानगरीय जीवन में ही मिलता है। ग्रामीण या कस्बाई जीवन में भी इसे लक्षित किया जा सकता है। किन्तु ऊपर जिन स्थितियों की चर्चा की गई है, वे क्रमशः ग्राम, नगर, महानगर तथा पश्चिम के नगरों में अधिक सघन होती गयी हैं और उसी परिमाण में अजनबीपन का भाव भी कुछ बढ़ा हुआ दृष्टिगत होता है।

## विवेच्य उपन्यासों में अजनबीपन का भाव :

यहाँ विवेच्य उपन्यासों में से प्रत्येक उपन्यासों को सामने रखकर अजनबीपन के भाव को स्पष्ट करने का यत्न किया गया है। यह अजनबीपन का भाव तो "त्यागपत्र", "शेखर: एक जीवनी", "खाली कुर्सी की आत्मा", "कंकाल", "काले फूल का पौधा" आदि कई उपन्यासों में प्राप्त होता है; परंतु हमारे प्रबंध की सीमा को ध्यान में रखकर हम यह चर्चा कर रहे हैं।

"अँधेरे बन्द कमरे" में नीलिमा-हरबंस के प्रीति-दाम्पत्य संबंधों का निरूपण है। हरबंस के जीवन की विडंबना यह है कि वह नीलिमा के साथ भी नहीं रह पाता और दूर भी नहीं रह पाता। हरबंस बुद्धिजीवी है, प्रतिभावान भी है; उसमें स्पर्द्धा-भाव भी है, अहं भी है। ये सब स्थितियाँ उसे अजनबीपन की ओर संक्रमित करती हैं। एक स्थान पर वह सोचता है : "शायद मेरा जन्म

ही किसी ऐसे नक्षत्र में हुआ है जिसने मेरे चारों ओर कठिनाइयों का वातावरण पैदा कर रखा है। ऐसी स्थिति में आदमी केवल "डे-ड्रीमिंग" कर सकता है और वही मैं करता हूँ। फिर भी मैं समझता हूँ कि हमारे पास एक-दूसरे के साथ चिपके रहने के सिवा कोई चारा नहीं है।" [31]

सार्त्र ने अपने "अस्तित्ववाद" वाले प्रसिद्ध व्याख्यान में स्पष्ट किया है कि बहुधा लोग अपनी बदकिस्मती या निकम्मेपन को छिपाने के लिए कोई-न-कोई बहाना तलाश लेते हैं। हरवंश सोचता है कि उसमें कई संभावनाएँ थीं। वह साहित्यकार भी हो सकता था, परंतु नीलिमा के असहयोगपूर्ण रवैये के कारण वह कुछ नहीं कर सका। वह अपनी असफलता को नीलिमा पर थोप देता है। वस्तुतः हरवंश थक चुका है, ऊब चुका है। उसकी चेतना को घुन लग चुका है। यहाँ तक कि वह आत्महत्या की भाषा में सोचने लगा है। उसके दिमाग में अजनबीपन का जो भाव है, वह उसके निम्न कथन में देखा जा सकता है: "मुझे लगता है जैसे मैं दुनिया से बिलकुल कट गया हूँ और अपने में बिलकुल अकेला हूँ। हर नया आदमी मुझे बिलकुल अपरिचित दुनिया का आदमी लगता है और मैं उससे अपने अन्दर की कोई चीज नहीं बाँट सकता।" [32]

हरवंश महसूस करता है कि वह और नीलिमा पति-पत्नी हैं, किन्तु पति-पत्नी में जो चीज होनी चाहिए वह उनके बीच कब की समाप्त हो चुकी है। इस प्रकार की अनुभूति की अंतिम परिणति अजनबीपन के बोध में होती है। हरवंश ठीक ही कहता है: "हम आज तक भी एक दूसरे के लिए अजनबी थे, मगर इस बात को मानना नहीं चाहते थे। अब आगे के लिए इतना ही फर्क होगा कि हम इस बात को मानकर रहेंगे।" [33] इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यास में हरवंश के पात्र में हमें अजनबीपन का अहसास मिलता है।

"पचपन खंभे लाल दीवारें" में यह अकेलेपन का भाव हमें उपन्यास की नायिका में मिलता है। उपन्यास की नायिका सुषमा में यह भाव शुरू से नहीं है। अपनी परिवार-प्रतिबद्धता के कारण वह नौकरी करके अपने परिवार के लोगों का पालन-पोषण करती है। इन पारिवारिक-आर्थिक विवशताओं में छटपटाती सुषमा अपने जीवन की एकरसता से ऊब जाती है। इस प्रकार के जीवन से उसे उकताहट आने लगती है। परंतु उसके जीवन में नील के आने से पूर्व ये भाव कुछ दबे-दबे से थे। नील उसके जीवन में आता है। थोड़े समय के लिए ही सही, पर सुषमा के जीवन में एक नयी बहार आती है। उसके जीवनाकाश में इन्द्रधनुषी सपने तैरने लगते हैं। परंतु जब वह अपनी सहेली मीनाक्षी द्वारा सुनती है कि हॉस्टेल की लड़कियाँ, स्टाफ सब में, नौकरी में हर जगह उसकी चर्चा है। तब इसके ये सुनहले स्वप्न यथार्थ की ठोकर से बिखर जाते हैं, बिखर जाते हैं, वह उदासी के आलम में डूब जाती है। नील के संस्पर्श ने रूखा, जड़ता, एकरसता, सूनापन, अकेलापन और ऊब को तोड़ दिया था। थोड़े समय के लिए उसकी कल्पना उन्मुक्त हो गई थी। उसके हृदय में आत्मविश्वास, उल्लास और प्रसन्नता का सागर लहराने लगा था। लेकिन जब जिन्दगी की वास्तविकता उसके सामने आती है, तब वह नील से कहती है — "मेरी जिन्दगी खत्म हो चुकी है। मैं केवल साधन हूँ। मेरी भावना का कोई स्थान नहीं। विवाह करके परिवार को निराधार छोड़ देना मेरे लिए संभव नहीं। प्राचीरों में बन्दी जिन्दगी के लिए उसने अपने को ढाल लिया है।"[34]

जिन्दगी के खोखलेपन का अहसास रह-रहकर उसे कचोटता है। उसकी बहन नीरू को कुछ लोग देखने आये हैं। तब मेहमानों के सामने उसकी माँ उसकी पद-गरिमा का बखान करती है। उस समय सुषमा अपनी सारहीन संपन्नता के खोखलेपन के कारण भीतर से कड़वाहट से भर उठती है। उसकी माँ जब उसे फिजूलखर्ची रोकने

के लिए कहती है , तब यह बात उसे चुभ जाती है और वह अपनी माँ का आड़े हाथों लेती है । यथा — " जरा अपने दिल के अन्दर झाँककर देखो कि तुमने मेरे लिए क्या किया है । मेरा आराम से रहना ही तुम्हें खटकता है । मैं कुंआरी रह गई तो कौन-सा आसमान फट पड़ा । इन दोनों की भी अगर शादी नहीं हो सकी तो क्या हो जाएगा ? "[35]

सुषमा में जो अजनबीपन का भाव आता है , डा. शिवशंकर राय ने उसे निम्नलिखित शब्दों में रेखांकित किया है — " सुषमा के लिए जो अमूल्य और स्वर्गिक था , दुनिया की आँखों में वह कितना सस्ता और उपहासास्पद बन गया था । उसकी अपनी लड़कियां — छात्राएं जिन्हें प्यार से समझाती है , उनकी सुख-सुविधाओं का ख्याल रखती हैं , आवश्यक न हो तो दंडित भी नहीं करती ; वे ही छात्राएं उसके कमरे में झांकती हैं , उसके बारे में अश्लील किस्से कहती हैं और उसकी शिकायत प्रिंसिपल से करने की धमकी आपस में देती हैं । सुषमा के भीतर कुछ टूट जाता है । क्या टूटता है — विश्वास ? प्रेम ? आस्था ? और वह पूरे परिवेश में अपने को अजनबी पाती है । "[36]

" वे दिन " उपन्यास के लगभग तमाम पात्र अजनबीपन के भाव से ग्रस्त हैं । उपन्यास का अनाम नायक " मैं " , रायना, टी.टी. , फ्रान्ज , मारिया आदि सभी आधुनिक जीवन की विसंगतियों को झेल रहे हैं तथा उसके दबाव का अनुभव प्रतिक्षण कर रहे हैं । इन सबके जीवन में खालीपन , रिक्तता , परायापन, अवसाद के भाव पाए जाते हैं , जो अन्ततः व्यक्ति को अजनबीपन की ओर ले जाते हैं । " वातावरण की उदासी और अपने अकेलेपन के कारण अजनबीपन या परायेपन का भाव पात्रों की आँखों में रह-रहकर कौंध उठता है । अकेलेपन और अजनबीपन के सम्मिलित बोध को तोड़ने के लिए ये पात्र पीने का सहारा लेते हैं और

पीकर अनेक संदर्भहीन बातें कहते और xxxxxx करते हैं — पर इससे उनकी अजनबीपन की भावना और ज्यादा गहराती है । अपने देश से हजारों मील दूर, ये पात्र बिलकुल अकेले हैं । न ग्राम से ये अपने को जोड़ पाते हैं और न अपने देश से लगाव-जुड़ाव को बनाए रख पाते हैं ।" [37]

लक्ष्मीकांत वर्मा द्वारा प्रणीत उपन्यास "एक कटी हुई जिन्दगी – एक कटा हुआ कागज" में डा. चन्द्रकान्त बांदीवडेकर परिवेशवाद के आक्रमण से उत्पन्न सांस्कृतिक खतरे के पूर्वचिह्न को देखते हैं । [38] प्रस्तुत उपन्यास में लक्ष्मीकान्त वर्मा ने निर्मल वर्मा की भांति चरित्रों पर जोर न देकर वातावरण के माध्यम से आधुनिक जीवन की विडंबनाओं का साक्षात्कार करवाया है । उपन्यास के पूरे वातावरण में थकाहट, उदासी, ऊब, अकेलापन और अजनबीपन का बोध गुंथा हुआ है । उपन्यास के नायक "वह" को हर जगह परायेपन का भाव दबोच लेता है । ऐसा लगता है कि वह अपनी सारी क्रियाएं हंसना, बोलना, रोना, चिल्लाना सब भूल गया है । शायद वह अपनी स्मृति खो बैठा है । चाहते हुए भी वह किसीको पहचान नहीं पाता और पहचानते हुए भी शायद वह जान नहीं पाता । [39]

रमेश बक्षी का उपन्यास "बैसाखियों वाली इमारत" आधुनिक मनुष्य के जीवन में आये खालीपन, खोखलापन, मूल्य-हीनता और दोमुंहेपन को बेबाकी से उजागर करता है । प्रस्तुत उपन्यास में महानगर कलकत्ता [अब कोलकाता] के परिवेश में लटकी हुई उदासी और मायूसी सब पात्रों को दबोचे हुए है । पहले अनेकशः निर्दिष्ट किया जा चुका है कि गहरे जीवन-मूल्यों के प्रति अनास्था व्यक्ति को अजनबीपन की ओर ले जाती है । उपन्यास का नायक "मैं" प्रेम को नकारता है, जबकि उसकी पत्नी प्रेम और रोमांस की भूखी है । नायक "मैं" प्रेम को

जीभ पर उगा हुआ कैन्सर मानता है, जिसके कारण सब चीजों के स्वाद बदल जाते हैं।[40] "मैं" के अतिरिक्त यह अजनबीपन से ग्रस्त रोमानियत और मूल्यहीनता मिस पायल के चरित्र में भी परिलक्षित होती है। मिस पायल के लिए उसकी "फ्लर्टिंग" उसकी सबसे बड़ी सामाजिक उपलब्धि है। उपन्यास के नायक की भाँति वह भी प्यार-मुहब्बत आदि को बकवास मानती है। वह कहती है : "मैं ऐसी पहचानें चाहती हूँ जिनका भूत, भविष्य कुछ न हो, कटे हुए लोग मिल जाएं और मिलकर किसी दिशा में खो जाएं, मैं इसीको आदर्श मानती हूँ"।[41] इस प्रकार "एण्टी वैल्यूज" को "वैल्यूज" मानना भी एक प्रकार का अजनबीपन है। "वे दिन" की रायना तथा "डाक बंगला" के मि. बतरा में भी इस प्रकार के "एण्टी वैल्यूज" अभिव्यक्त रखते हैं।

उषा प्रियंवदा के उपन्यास "पचपन खंभे लाल दीवारें" में सुषमा का अजनबीपन जहाँ उसके परिवार-प्रतिष्ठित आदर्श के कारण है, वहाँ उनके दूसरे उपन्यास "रुकोगी नहीं राधिका?" की राधिका का अजनबीपन उसके भटकाव के कारण है। इलेक्ट्रा ग्रंथि के कारण उसमें एक जबरदस्त भटकाव आता है और उसके कारण वह इधर-उधर भागती रहती है।

लक्ष्मीकांत वर्मा के उपन्यास "दूसरी बार" में भी अलगाव और अजनबीपन की स्थितियाँ मिलती हैं। ये भाव "मैं" को हमेशा घेरे रहते हैं। वह सोचता है कि इस पूरे शहर में वह अकेला व्यक्ति है जो बेमतलब बेबुनियाद वक्त बिता रहा है। वस्तुतः इसका नायक "मैं" घोर अहंवादी, दुरभिमानी, बात-बात पर झुंझलाने वाला, चिड़चिड़ा और वास्तविकता से भागने वाला व्यक्ति है। एक स्थान पर वह कहता है : "मेरा बचा-खुचा भी नष्ट हो गया। चिन्ता ने मुझे एक झींगुर की तरह खा लिया। अब मैं किसी लायक नहीं रह गया हूँ—

यहाँ तक कि चिन्ता के भी लायक नहीं ।"[42] याद रहे "वे दिन" की रायना भी बिलकुल ऐसा ही कहती है — " मैं किसी काबिल नहीं रह गयी हूँ ... नाट इवन फार लव ... फील किल्ड इट ।"[43]

"मुर्दाघर" के लेखक जगदम्बाप्रसाद दीक्षित का "कटा हुआ आसमान" उपन्यास भी महानगरीय अजनबीपन को स्थापित करने वाला उपन्यास है । इस उपन्यास का प्रोटैगनिस्ट रमेश नौटियाल बम्बई की चमक-दमक में स्वयं को "मिसफिट" और अजनबी पाता है । रमेश नौटियाल बहुत ही "कन्फ्यूज्ड" व्यक्ति है । "विचारों का प्रवाह , बीते वर्षों का प्रवाह , दुखद यादों का प्रवाह , आर्थिक दुरवस्था का प्रवाह , किटी के साथ का रोमानियत भरा प्रवाह— उसके ऊपर से गुजर रहे हैं । इन सारे प्रवाहों के बीच किंकर्तव्यविमूढ़ बना वह बदहवास बैठा है । अपने अलगाव को पाटने के लिए क्षण को पकड़कर उसे अर्थ देने का प्रयास वह जितना करता है , अलगाव उतना ज्यादा फैलता जाता है । यह बेगानेपन का बोध उसके इस कथन से उभरने लगता है — " कहाँ है हमारा घर ? वह महसूस करता है , घर में सबकुछ है , सिर्फ घर नहीं है ।" उसके मन में कोई कीड़ा लग गया है जिससे उसे सबकुछ उखड़ा-उखड़ा लगता है । घर नहीं , साथी नहीं , पैसे नहीं , घबराहट , ऊब , घुटन , थकन और ऊँचे अरमान उसे चारों तरफ से घेरे हुए हैं । वह अधूरा आदमी है , कमजोर है , किटी का संग उसे और कमजोर और अधूरा बनायगा ।"[44]

इसी लेखक का "मुर्दाघर" उपन्यास एक दूसरे प्रकार का बेगानापन स्थापित करता है । महानगरी बम्बई में जहाँ एक तरफ चमचमाती हुई कारें और गगनचुम्बी अट्टालिकाओं में रहने वाले सफेदपोशों की अभिजात दुनिया है ; वहाँ दूसरी ओर सड़क के किनारे फुटपाथों पर पुल के नीचे गंदी चालों में , गटरों के पास सीलन और सड़ांध भरे इन झोपड़ों में , भयंकर

रोगों से ग्रस्त तथा आर्थिक रूप से मजबूर रंडियों, कोढ़ियों, अपाहिजों, भिखारियों या कूड़ों पर फेंके गये जूठन पर जीने वाले आवारा छोकरों, चोर, उचक्कों, जुआरियों और गुण्डों का बजबजाता हुआ अपना अलग संसार है। इस सामाजिक गन्दगी के भयावह दबाव को लेखक ने तुलनात्मक स्तर पर झेला और रचा है। डा. विजयमोहन सिंह के शब्दों में कोढ़, घिनौनी यौन बीमारियां, विकृतियां, गन्दगी, सड़न, बदबू, भुखमरी, गालियां और पुलिस की लाठियां, इन सबसे लबालब भरा हुआ यह उपन्यास वीभत्सता का एक स्तूप है।[45]

" मारो डंडे इन छिनालों को ... तोड़ दो टंगड़ियां सालियों की ... खबरदार जो पैर रखा इस तरफ ... "[46] इस प्रकार की आवाजों के साथ व्यवस्था का क्रूर अमानवीय आतंक अपनी समूची भयावहता के साथ गहराने लगता है। बदबू और पसीने से तर अपनी काली चमड़ी पर ढेर-सा पाउडर पोतकर ओंठों को लाल कर गजरा बांधकर ग्राहकों का इन्तजार करते-करते थक जाती हैं। अट्टालिकाओं की टिमटिमाती रोशनियों का उजाला उनकी पहुँच से दूर है जो उनकी भटकन को और बढ़ाता है। हताश और निराश रण्डियां एक-दूसरे को गालियां देते हुए लड़-झगड़ रही हैं और एक-दूसरे पर "धंधे" को चौपट करने का तोहमत लगा रही हैं। इनमें एक है मैना। प्रेम में उसे पंचना मिली है। प्रेमी के कारण ही वह इस नरक में आयी है। उसकी रगों में बूंद-बूंद जहर जमा हो रहा है। जब नौटांक दारू अन्दर जाती है तो उसके भीतर का जहर पिघलने लगता है। मैना पहल बखीरव से उगलती है और फिर थककर अपने मरद पैंपट को कोसती और झपती है जो एक तरह से उसका पति नहीं, पति का तर्क मात्र है। यथा–

" ... मादरचोद ! ... बेनचोद ! ... तेरी माँ की ... ! तेरा कभी भला नहीं होगा ! साला हरामी ... तेरा मुरदा निकलेगा ... ऐसा मरद से तो बमरद ठीक। "[47]

मैना पोपट से खीझकर कहती है —" क्या बोला था तू ... धन्धा करेगा और पेट भरेगा मेरा। अब धंधा करती मैं और पेट भरती तेरा।" पोपट उसे मनाने के लिए कहता है —"एकच धन्धा करेगा और सब घाटा पूरा करेगा।" तब मैना उस पर बिफर पड़ती है —" कब होगा तेरा वह एकच धन्धा ? मेरी मैयत का पीछू ? सुबु स चूल्हा नहीं जला। शाम स कुतिया का माफक रौंड मारती। एक गिराक नहीं मिला। मर गये सबके सब। रोज ऐसाइच। मैं क्या जिनावर हूं बोल ना। क्या बोला था तू ... खाली मैं खोली ले के देऊंगा ... दो वखत का रोटी .. लुगड़ा .. पिलाउज .. सनिमा ले के जाऊंगा ... ये करूंगा ... वो करूंगा .। किधर गया वो सब ? गधी की गांड में घुस गया। साला झूठा। क्या हाल कर दिया मेरा। आज इसके पीछू तो कल उसके। फिर भी भूकी मरती। उधर छोकरा होटल का ढकेला-पकेला खाता। कायकू सब झूठा बात किया तू ?" [48]

और पोपट मासूम से आशावाद के साथ कहता है —" मैं झूट बात कधीं किया। सब करेगा मैं ... पन झूटा बात नहीं करेगा। पक्को बोला ... अभी बोलता ... मेरी जिन्दगानी में खाली एकच बात है ... तेरेकु खाली में खोली ले के देना ... तेरेकु अच्छा लुगड़ा लाके देना ... तेरेकु उधर से ले जाना ... और मैं तेरेकु बोलता मैना याद रख ... एक दिन मेरा टैम जरूर आयेगा.. जरूर आयेगा। तब तू बोलना मेरेकु।" [49]

पर सुबह होते ही पोपट मैना के धंधे की कमाई उससे छीनकर उसे धकियाता हुआ जुआ खेलने चला जाता है। यह झूठा आशावाद और अन्तहीन प्रतीक्षा व्यक्ति को सारे मानवीय मूल्यों और संबंधों से अलगाकर-काटकर उसे अजनबी बना देती है। इसका बड़ा ही सशक्त और प्रामाणिक अंकन प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने किया है। इतना जबरदस्त अस्तित्ववादी-प्रगतिवादी

लेखक अपने समाग-समाज मूल्यों को भुलाकर इधर दक्षिणपंथी शिविर में जा रहा है, क्या यह एक लेखक का अजनबीपन नहीं है ?

रोजी मरद की तलाश में हर हफ्ते बाद, हर रात बाद नया मरद करती रही और अन्ततः कोढ़ग्रस्त हो गई। पोपट हाजी सेठ की तरह रातोंरात अमीर होने के चक्कर में अपनी औरत मैना को रण्डी बनने पर मजबूर कर देता है। सब्बार को यह डर है कि अगर उसने बीवी को इस माहौल से नहीं निकाला तो मैना की तरह वह भी एक दिन रण्डी बन जायगा। अपनी किस्मत को कोसता हुआ वह कहता है —" अपना किस्मत च गांडू है साला। यह जिन्दगानी भी कोई जिन्दगानी है। ... मोहब्बत से शादी बनाया। करके च बोलता ये भी कोई जिन्दगानी है। मैं उधर .. औरत इधर। मैं इधर आ सकता नहीं। आया तो साला हवलदार गांडू लोक पकड़ लेगा। उधर रहू तो मेरी औरत कू च साला लोक रण्डी बना डालेगा।" [50]

यह केवल सब्बार ही नहीं मैना, पोपट, हसीना, रोजी, बशीरन, मरियम सभी की कहानी है। सभी बिलबिला रहे हैं। इनका जीवन बेमानी हो चुका है, इनके सपने बिखर चुके हैं और ये अपनी लाश खुद अपने कंधों पर ढो रहे हैं।

डा. विद्याशंकर राय जगदम्बाप्रसाद दीक्षित के संदर्भ में लिखते हैं —" प्रेमचन्द के बाद जगदम्बाप्रसाद दीक्षित दूसरे महत्त्व-पूर्ण रचनाकार हैं जिन्होंने सामान्य जन की पीड़ा को तुलनात्मक स्तर पर तौलने और रचने का सार्थक प्रयास किया है। प्रेमचन्द के पात्रों को आतंकित करने वाले जमींदार, कारिन्दे, सामाजिक धार्मिक रूढ़ियों के ठेकेदार ब्राह्मण और सूदखोर महाजन हैं; जबकि दीक्षित के पात्रों को आतंकित करने वाले हैं स्मैगलर्स और बर्बर पुलिस। समय के साथ बदले हुए संदर्भों को लेखक ने कुशलता

से पहचाना है ।"[51]

परन्तु डा. राय शायद शैलेश मटियानी को भूल गये हैं । प्रेमचन्द के बाद के महत्त्वपूर्ण मानवीय-संवेदना से लबालब भरे हुए कथाकारों में मटियानीजी को अनेक समीक्षक रेखांकित कर चुके हैं ।

उपर्युक्त उपन्यासों के अतिरिक्त " महानगर की मीता ", "डाक बंगला ", " दो लड़कियाँ ", " नावें ", "छिन्नांत ", "पतझड़ की आवाजें ", " अकेला पलाश " आदि कई ऐसे उपन्यास हैं जिनमें हम इस अजनबीपन के भाव को परिलक्षित कर सकते हैं ।

## अन्य महानगरीय समस्याएं :

महानगरीय लोगों का जीवन अनेक समस्याओं से ग्रस्त होता है । ग्रामीण और कस्बाई लोगों को महानगरीय जीवन का भयंकर आकर्षण होता है । मुंबई, कलकत्ता, दिल्ली जैसे महानगरों में जो लोग बसते हैं; वे जब अपने वतन में जाते हैं तो खूब बढ़ा-चढ़ाकर बातें करते हैं । ठीक उसी तरह जो लोग यूरोप -अमेरिका से आते हैं, वे यहाँ के "नेटिव" लोगों के आगे ऐसी बातें करते हैं कि वहाँ वे बहुत ही अमन-चमन से हैं । वहाँ की तो बात ही निराली होती है, ऐसा अपना प्रभाव गालिब xxxहैxxx करने के लिए वे कहते हैं । बड़ी-बड़ी गप्पें और डींगें वे हाँकते रहते हैं । किन्तु उनमें से अधिकांश की हालत वहाँ बड़ी खस्ती होती है । ग्रामीण लोग उनको अहोभाव से देखते हैं और वे उनका भ्रम बनाए रखते हैं । वस्तुतः महानगर में या पश्चिम में सभी लोग सुखी और संपन्न नहीं होते । उनके सामने भी अनेक समस्याएं होती हैं । उनमें से कुछेक समस्याओं विवरण पूर्ववर्ती अध्यायों में कर चुके हैं । यहाँ कुछ शेष बची हुई समस्याओं पर विचार करने का उपक्रम है । इनमें से कुछ समस्याएं तो ऐसी हैं कि

जिनके कारण ऊपर जिस अकेलेपन की बात कही गई है, वह अकेलापन विकसित होता है।

भौतिकता का बढ़ता आग्रह :

रुपये-पैसे और संपत्ति का मोह तो हमेशा से रहा है, परंतु ~~इधर~~ इधर यह मोह अनेक गुना बढ़ गया है। भौतिक सुख-सुविधाओं और साधनों ने इसे बढ़ाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। टी.वी. और फिल्मों के कारण भौतिकता का यह आग्रह और भी बढ़ रहा है। पहले लोग अपने बारे में अधिक और दूसरों के बारे में कम जानते थे। अब उसका उल्टा हो गया है। लोग अपने बारे में, अपनी स्थिति के बारे में कम जानते हैं और दूसरों के बारे में ज्यादा जानने लगे हैं। फलतः असंतोष बढ़ रहा है। कोई भी व्यक्ति जहाँ वह है, उससे संतुष्ट नहीं है। महानगरीय जीवन में जो आपाधापी और दौड़धूप है, उसके पीछे भौतिक संपन्नता का आग्रह है। सभी रातों-रात अमीर हो जाना चाहते हैं। जो नौकरीपेशा लोग हैं, चाहें तो वे अपनी आमदनी में परवरिश करके गुजारा चला सकते हैं। पर उन्हें टी.वी. चाहिए, फ्रीज चाहिए, वाशिंग मशीन चाहिए, बढ़िया फर्नीचर और टीपटाप चाहिए। यह सब पाने के लिए व्यक्ति मरता-खपता है। ओवर-टाईम करता है। भ्रष्टाचार करता है। "नावें" की मालती को पगार के अतिरिक्त क्यों कमाने की आवश्यकता पड़ती है। "पचपन खंभे लाल दीवारें" की सुषमा या "टेराकोटा" की मिलि के पास क्यों उनके घरवाले नई-नई फरमाइशें करते रहते हैं? पगार बढ़ती जाती है, पर लोगों के खर्च भी बढ़ते जाते हैं। एक समय की "लक्जरी" जीवन की परम आवश्यकता बन जाती है। कुछ चीजें "स्टेटस सिम्बाल" बन जाती हैं। पहले "फ्रीज, फियाट और फ्लाट" की चर्चा चलती थी। आजकल अपनी कारों और कुछ युवक-युवतियाँ मोबाइल फोन पर बात करते हुए नजर आते हैं। "मोबाइल" अब "स्टेटस

सिम्बोल " होता जा रहा है । घर में फोन होते हुए भी अब लोग कोडलेस रखते हैं । कौन अपने कमरे से उठकर फोन तक जाने का कष्ट उठायें । भौतिकता के इस आग्रह के कारण व्यक्ति अब हमेशा टेन्शन में रहता है । इस मामले में पूरा समाज नकलची हो गया है । अति-निम्नवर्ग , निम्नवर्ग की ; निम्नवर्ग मध्यवर्ग की , मध्यवर्ग उच्च-मध्यवर्ग की , उच्च-मध्यवर्ग उच्चवर्ग की और उच्चवर्ग अति-उच्चवर्ग की नकल करने में लगे हुए हैं । सबकी नज़र ऊपर है , नीचे कोई नहीं देखना चाहता ।

"मुरदाघर" की मैना का सपना क्या है ? चाल में एक खोली , चन्द कपड़े और दो वक्त की रोटी । परंतु दूसरी ओर ऐसे लोग भी हैं जो निरंतर अपनी ज़रूरतें बढ़ाते रहते हैं । मैं एक ऐसे व्यक्ति को जानती हूँ जो पाँच सौ का पगारदार था , तब भी कर्ज़दार था और आज पचीस हजार का पगारदार है , तब भी कर्ज़दार है । ऐसा क्यों ? भौतिकता का आग्रह । पहले व्यक्ति अपने घर-परिवार को चाहता था , अब भौतिक सुख-साधनों को चाहने लगा है । भौतिकता का यह आग्रह भी मानवीय संबंधों में दरार पैदा कर रहा है ।

"सादा जीवन उच्च विचार " के आदर्श को अब दकियानूस करार दिया जा रहा है । "पतझड़ की आवाज़ें " में अनुभा के पति मि. धीरेन वर्मा एक आत्मतुष्ट व्यक्ति हैं । उनको अपनी कमाई से बिलकुल संतोष है । परन्तु उनकी पत्नी हमेशा उनको कोंचती रहती है । उसे धीरेन वर्मा की कमाई से संतोष नहीं है । अतः वर्माजी नौकरी छोड़कर व्यवसाय करने लगते हैं । यदि व्यक्ति तथा उसके घर-परिवार के लोग संतोषी स्वभाव के हों , सादगी में मानते हों तो नौकरीशुदा व्यक्ति सुखी रह सकता है । परंतु ऐसा नहीं है तो नौकरी के अलावा उसे और कुछ करना पड़ेगा या नौकरी में ही अतिरिक्त कमाई का रास्ता

निकालना पड़ता है । सारे समाज में भौतिकता का आग्रह बढ़ रहा है । सामाजिक संबंधों पर भी उसका असर पड़ रहा है । व्यक्ति यदि पुत्रियों का पिता है, तो लाख वह चाहे कि सादगी में रहे, परंतु समाज में देखादेखी उसे कुछ चीजों को बसाना पड़ता है, अन्यथा "कंगला" समझे जाने पर उसके घर कोई सम्बन्ध भी करने को राजी नहीं होता और व्यक्ति अपना मन मार सकता है, पर संतानों का नहीं । प्रेमचन्द ने इस सत्य को बहुत पहले पहचान लिया था । रिश्वत से सदा दूर रहने वाले दारोगाजी [सुमन के पिता] को अपनी बेटी के ब्याह के लिए विवश रिश्वत लेनी पड़ती है । महानगरों में भौतिकता का आग्रह और भी बढ़े-चढ़े रूप में मिलता है । इस बढ़ती हुई भौतिकता की पूर्ति के के लिए व्यक्ति को भ्रष्टाचार का सहारा लेना पड़ता है । "डाक बंगला" के मि. बतरा का व्यवसाय ही भ्रष्टाचार की बुनियाद पर खड़ा है ।

चीजपरस्ती :

भौतिकता के आग्रह के कारण ही व्यक्ति और समाज में चीजपरस्ती बढ़ रही है । आत्मा का गौरव नष्ट हो रहा है । चीजों का गौरव बढ़ रहा है । पहले व्यक्ति के गुणों की पूजा होती थी । अब व्यक्ति का मूल्यांकन इस आधार पर होता है कि उसके घर में क्या-क्या है । विदेशों में और अब अपने देश में भी नव-दम्पति अब बच्चा नहीं, वैभव चाहते हैं । वे "प्लान" करते हैं कि बच्चा आवे उसके पहले उनके घर में क्या-क्या होना चाहिए । बहुत पहले धर्मयुग में पढ़ी एक कहानी स्मृति में कौंध रही है । उसका वस्तु कुछ इस प्रकार का है । गांव का एक युवक पढ़-लिखकर कुछ अच्छे पद पर पहुंच गया है और फलतः उसकी आर्थिक स्थिति भी अच्छी हो गई है । उसका दूसरा भाई मुसीबत में है । उसे कोई बीमारी है । इलाज कराना बहुत

आवश्यक था । वह भाई तो कुछ पसीजता भी है, पर बालगी में उसकी पत्नी उसे मना कर देती है । वह अपने भाई को कह देता है कि उस समय उसकी स्थिति कुछ अच्छी नहीं है और वह उनको आर्थिक सहायता नहीं कर सकता । उसके दूसरे ही दिन उनके घर में "कलई टी.वी." आ जाता है । गांव से खबर आती है कि भाई की मौत हो गई है । इस प्रकार इस चीजपरस्ती ने खून को सफेद कर दिया है । "नहीं फिर वह कभी" में इससे विपरीत स्थिति मिलती है । वहां परबतिया अपने पटना में रहने वाले पति को समझाती है कि वह जेठजी की मदद करे, परंतु जगलाल बहुत हिसाबी हो गया है । वह अपने तथा अपने बड़े भाई के परिवार का मिलान करने बैठता है । पहले भाई के बच्चों को लोग अपने ही बच्चे समझते थे, पर अब इस "चीज-परस्ती" के जमाने में लोग-बाग उनका भी हिसाब रखने लगे हैं । इस संदर्भ में डाक्टर साहब की एक रचना स्मृति में कौंध रही है :

"जीवन जो बंधा है, वस्तु और चीजों में ।।
चीजें जो चमकती हैं, दिन में भी चमकती हैं
मोटर एक चीज है, बंगला एक चीज है
पैसा एक चीज है, नौकर एक चीज है
बच्चा एक चीज है । बीवी एक चीज है ।
जो थी भाल पुरुष का, अब केवल माल है ।
सारे सम्बन्धों में चीजों के बीज हैं,
ये बीज कभी पनपेंगे, फूलेंगे, फैलेंगे
और तब यह दुनिया होगी चीजों का एक जंगल
भेड़ियों सा खूंखार होगा यहां जंगल ।।" 52

इसमें मनुष्य की बढ़ती चीज परस्ती को एक सांस्कृतिक या चेतना-गत संकट के रूप में चित्रित किया गया है । इस चीजपरस्ती के

MEHTA LIBRARY

कारण मानवीय संबंधों को जोरदार धक्का पहुंचा है । महानगरों में जो आपाधापी और अतिव्यस्तता पाई जाती है, उसका एक मुख्य कारण यह पीजबस्ती है ।

टूटते-थहराते पारिवारिक सम्बन्ध :

ग्राम्य और कस्बाई जीवन में भी पारिवारिक विघटन पाया जाता है, परंतु महानगरीय जीवन में यह विशेष रूप से मिलता है । उसके पीछे पारिस्थितिक तथ्य भी जवाबदेह है । प्रायः महानगरों में लोग युग्मक-परिवार की स्थिति में पाये जाते हैं । आवास की भी समस्या है । महानगरों में महंगाई भी कमरतोड़ होती है । ऐसे में जो लोग ग्राम्य विस्तार से या कस्बों से वहाँ पहुँचे हैं, वे अपने परिवार के अन्य सदस्यों को वहाँ नहीं ले जा सकते । शुरू-शुरू में कमाकर गांव या वतन में कुछ भेजने की बातें होती हैं, परंतु कालान्तर में चित्र बदल जाता है । मनीआर्डर की रकम कम होते-होते बिलकुल बन्द हो जाती है । पत्र भी धीरे-धीरे कम हो जाते हैं । परिवार सिकुड़ जाता है । डा. रामदरश मिश्र कृत "अपने लोग " उपन्यास में हम इस तथ्य को रेखांकित कर सकते हैं । "वे दिन" का नायक "मैं" तो अपने घर-परिवार से बिलकुल कट गया है । इसी उपन्यास का दूसरा पात्र टी.टी. भी अपने घर-परिवार, यहाँ तक कि अपनी माँ से भी कट गया है । "नदी फिर बह चली" के कमलाल में भी यह प्रवृत्ति आ गई है । "आपका बण्टी" तथा " अंधेरे बन्द कमरे " आदि उपन्यासों में भी हमें अपने परिवारों से कटे हुए लोग मिलते हैं । "अठारह सूरज के पौधे " , " बैसाखियों वाली इमारत " , "अन्तराल " , "रुकोगी नहीं राधिका " , "कटा हुआ आसमान " , "बीमार शहर" प्रभृति उपन्यासों में हमें ये टूटते-थहराते पारिवारिक

परिवारों की परिस्थितियाँ दृष्टिगोचर होती हैं ।

**टूटते-बिखरते मानवीय संबंध :**

भौतिकता की अंधी दौड़ , चीज-परस्ती , एकाकी और एकक परिवार की स्थिति , स्वार्थान्धता , स्वकेन्द्रीयता प्रभृति कारणों से महानगरों में मानवीय संबंध भी टूटने -बिखरने के कगार पर है । " वे दिन " का नायक अपने सारे मानवीय संबंधों को खो चुका है । उसे अपनी बहन का पत्र तक पढ़ने की परवाह नहीं । वह पत्र कई-कई दिनों तक अपठित रह जाता है । कैसी भी खराब और गरीब परिस्थिति में पति अपनी पत्नी से "धंधा" नहीं करवाता , किन्तु "मुरदाघर" का पैपट अपनी पत्नी मैना से धंधा करवाता है । एक तरह से मैना को रण्डी बनाने में उसका ही हाथ है । कोई भी माँ या भाई या पिता नहीं चाहेगा कि उनकी पुत्री या बहन गैर-मर्दों के साथ कई-कई दिनों तक दूसरे शहरों में होटलों में ठहरें , परन्तु "नावें" की मालती के साथ यही होता है । उसकी माँ और पिता तथा परिवार वालों को केवल मालती की कमाई पैसे से मतलब है , ये पैसे कहाँ से आते हैं , कैसे आते हैं , मालती कहाँ जाती है , किसके साथ जाती है , इन बातों से तो उन्हें कोई लेना-देना नहीं है । ठीक यही बात " कोठरियाँ " की रंजना पर भी लागू होती है ।

पति-पत्नी के संबंधों में परस्पर प्रेम , विश्वास और उष्मा होने चाहिए । परंतु महानगरों में अब यह खत्म हो रहा है । पति-पत्नी के अलग-अलग संसार हैं और उसके कारण उनके संबंधों में एक प्रकार का ठण्डापन आ गया है । "अंधेरे बन्द कमरे", "आपका बण्टी" , "फटा हुआ आसमान " , "पतझड़ की आवाजें" "कड़ियाँ" , " तीसरा आदमी " , " अकेला पलाश " , "चिड़िया-

घर ", "घेघर ", "नरक-दर-नरक " प्रभृति उपन्यासों में हम इसे रेखांकित कर सकते हैं । "पतझड़ की आवाजें " की उषा के संबंध कई पुरुषों से हैं । वह पैसा और पोजिशन हासिल करने के लिए किसी भी पुरुष के साथ दैहिक संबंध बांध सकती है । वह झुल्लमखुल्ला कहती है — " इस मर्द जात के साथ सभी सोओ , अगर माल हासिल होता हो या पोजिशन हासिल होती हो ।"[53]

"ढहती दीवारें " ( मीना दास ) में तो मानवीय-संबंधों का बिलकुल छेद ही हो गया है । प्रस्तुत उपन्यास का अजय अपने स्वार्थ के लिए अपनी पत्नी माधुरी को सुप्रिया नाम देकर एक दूसरे व्यक्ति से उसका विवाह करा देता है । वह खुद लड़की का भाई बन जाता है और उसका ससुर लड़की के पिता का रोल अदा करते हुए कन्या-दान करते हैं हैं । रहस्यस्फोट होने पर आकाश जब अजय को अपनी पत्नी से वेश्यावृत्ति कराने पर लानत भेजता है , तब वही बेशर्मी ~~[illegible]~~ से वह कहता है :

" इसमें कोई शक नहीं कि बीवी से वेश्यावृत्ति करवाना बहुत घिनौना काम है , लेकिन पेट की खातिर लोग यह भी करवाते हैं । और हां , केवल पेट के खातिर ही नहीं , पिछले युद्ध में देखा था , अमीर बनने या ऊंची पोस्ट पाने के लिए कोई-कोई कोन्ट्राक्टर मेजर साहब के कमरे में अपनी बीवी-बहन-बेटी को भेज रहा है ।"[54]

कहने का अभिप्राय यह कि इस भौतिकता की चकाचौंध में सारे मानवीय रिश्ते बेमानी हो गये हैं ।

**स्वार्थान्धता :**

यह स्वार्थान्धता सभी परिवेश में पढ़ रही है , परंतु महानगरीय परिवेश में उसका परिमाण अधिक होता है , क्योंकि वहां व्यक्ति पर किसी प्रकार का कोई अंकुश नहीं है । व्यक्ति

अधिक स्वच्छंद और उन्मुक्त है । अपरिचय भी एक कारण हो सकता है ।

ऊपर जिस "ढहती है दीवारें " उपन्यास का उदाहरण दिया है , उसमें स्वार्थान्धता की चरम परिसीमा दृष्टिगत होती है । कोई श्वसुर अपने स्वार्थ के लिए पुत्रवधू की इज्जत-आबरू का सौदा करें उसे क्या कहा जा सकता है । महानगरीय परिवेश में जो अपरिचय का वातावरण रहता है , महानगर में लोग दूर-दूर काम-धंधों पर जाते हैं , अतः बहुत-से माँ-बाप अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए बेशर्माई धारण कर लेते हैं । "बँटता हुआ आदमी " की सुनंदा से उसके माँ-बाप देह का सौदा करवाते हैं । बाप सौतेला है , पर माँ तो सगी है । पर उसके सुनंदा के अतिरिक्त और भी तीन बच्चे हैं । उन बच्चों तथा अपना पेट भरने के लिए वह वह अपनी सगी बेटी से "धंधा" करवाती है । "पचपन खंभे लाल दीवारें " तथा " टेराकोटा" की सुषमा और मिति अपनी परिवार-प्रतिबद्धता में आत्म-बलिदान करती हैं , पर उनके माँ-बाप उनके बारे में कभी नहीं सोचते । उसका एक कारण यह भी है कि सुषमा और मिति महानगरों में रहती हैं और उनका परिवार कस्बों में । अतः उनको लेकर विशेष चर्चा नहीं होती । यदि ये दोनों छोटे कस्बों में रहतीं तो वहाँ का समाज शायद उनके माँ-बाप का जीना हराम कर देते ।

## स्वकेन्द्रीयता :

महानगरों का व्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक स्व-केन्द्री होता है । वह अपने स्वार्थ और सुख-दुःखों तथा अभाव के सामने दूसरों का कभी विचार नहीं करता । स्वार्थ स्वकेन्द्रीयता का जनक है । "आपका बण्टी" , "कड़ियाँ " , " वे दिन " आदि उपन्यासों में हम देखते हैं कि स्त्री-पुरुष की सोच इतनी स्वकेन्द्री है कि अपने बच्चों के भविष्य तक का विचार वे नहीं करते । "वेदिन"

के जाक और रायना अलग-अलग रहते हैं । पुत्र मीता को उन्होंने बोर्डिंग-स्कूल में डाल दिया है । छुट्टियों में वे मीता को बारी-बारी से अपने पास रखते हैं । ऐसा वे अपनी संतान के प्रेम से प्रेरित होकर नहीं करते, बल्कि बच्चे के बोझ को बाँटने के लिए करते हैं । गोया बच्चा भी माँ-बाप के लिए बोझ बन गया है । "आपका बण्टी" की शकुन पहले तो बण्टी को देने के लिए राजी नहीं थी , परन्तु जब वह देखती है कि अजय तो अपने उत्तरदायित्व से मुक्त हो दूसरी पत्नी मीरा के साथ अमन-चमन कर रहा है , तब वह अजय को लिखती है कि वह आकर बण्टी को अपने साथ ले जाएँ । शकुन की इस प्रवृत्ति के पीछे उसका आहत "अहं" कारणभूत है । "अंधेरे बन्द कमरे -" के हरबंस और नीलिमा का दाम्पत्य-जीवन सही पटरी पर नहीं चल रहा है , उसके पीछे भी उनकी स्वकेन्द्रियता ही कारणभूत है ।

## संबंधों की ऊष्मा का ठण्डापन :

ऊपर जिन कारणों की चर्चा की गई है उनके रहते मानवीय सम्बन्ध अपनी ऊष्मा खो रहे हैं । सम्बन्धों में जो एक लगाव , एक आपसीपन , एक गरमाहट होनी चाहिए , महानगरीय व्यक्ति उसे चूक रहा है । अब पति-पत्नी में शीत-संबंध शुरू हो गये हैं । वह गर्मजोशी नहीं रही । यह शीत-संबंध शिक्षित स्त्री-पुरुषों में अधिक पाये जाते हैं । "अंधेरे बन्द कमरे" के हरबंस और नीलिमा का "लव-मैरिज " है । "कोर्टशीप" के दिनों में वे एक-दूसरे को मिले बिना रह नहीं सकते थे । हरबंस नीलिमा को प्यार से "लवि" कहता था । परन्तु बाद में दोनों के "ईगो" की टकराहट के कारण उनके संबंधों में एक प्रकार का "ठण्डापन " आ जाता है । बात-बात में वे झगड़ते हैं । यहाँ तक कि हरबंस को नीलिमा का जन्मदिन तक याद नहीं रहता । उसी हरबंस को अपनी साली , अर्थात् नीलिमा की बहन , शुक्ला का जन्म-दिन याद रहता है ।

जब स्त्री-पुरुष याने पति-पत्नी के बीच में किसी तीसरे

व्यक्ति के प्रवेश की स्थिति आती है तब भी संबंधों में ठण्डापन आ जाता है । नगरीय-महानगरीय जीवन में स्त्री-पुरुषों के विवाहेतर संबंध पाये जाते हैं , जिनकी विस्तृत चर्चा पूर्ववर्ती पृष्ठों में कर चुके हैं । इन संबंधों के कारण भी दाम्पत्य-जीवन में ठण्डापन आता है । संबंधों का यह ठण्डापन कहीं आर्थिक कारणों से भी होता है । पति-पत्नी का संबंध विश्वास की बुनियाद पर आधारित है , यदि किन्हीं कारणों से उनमें परस्पर अविश्वास पैदा हो जाता है , तब भी शीत-संबंध पनपने लगते हैं । अति-व्यस्तता और काम की थकावट से भी दाम्पत्य-जीवन में ठण्डापन आता है । "अकेला पलाश" की तहमीना तथा " नरक-दर-नरक " की सीता गुप्ता अधिक कार्य-भार से थक जाती हैं । अतः कई बार उनमें "सेक्स" के लिए कोई उत्साह नहीं दिखता । ऐसी स्थिति में उनके पतिदेव उन पर शक करते हैं कि वे अपनी "सेक्सुअल उर्जा " बाहर कहीं संतुष्ट करके आती हैं ।

संबंधों का यह ठण्डापन केवल पति-पत्नी के संबंधों में ही होता है , ऐसा नहीं है । सभी प्रकार के संबंधों में यह पाया जाता है ।

**मनुष्य का "रोबोट " होते जाना :**

इस यंत्रयुग में मनुष्य यंत्र के साथ यंत्र हो गया है । उसका भी मशीनीकरण हो गया है । जैसे मशीन की अपनी कोई भावना नहीं होती , अपनी कोई इच्छा नहीं होती ; ठीक वैसे ही महानगरीय व्यक्ति भावनाहीन-संवेदनाहीन हो रहा है । वह एक यंत्र-चालित मनुष्य ( रोबोट ) -सा हो गया है । "रोबोट" बाहरी उर्जा या शक्ति से चलता है । मनुष्य भी बाहर की जरूरतों और दबावों में कार्य कर रहा है । उसकी आंतरिक इच्छा मर चुकी है । उसके जीवन का वैविध्य भी खत्म हो रहा है । पहले तीज-त्यौहार

होते थे , मेले-ठेले होते थे , लोगों का एक-दूसरे के यहाँ आना-जाना रहता था । उसके कारण जीवन भरा-भरा सा लगता था । ऐसा नहीं है कि आर्थिक या सामाजिक या अन्य प्रकार की समस्याएँ नहीं होती थीं , पर जीवन में विविधता के कारण जीवन बोझरूप नहीं लगता था । सुख और दुःख थे , पर आनंद भी था । आदमी मनभर रो लेता था , मनभर हँस लेता था । हँसने के लिए साथियों का , मित्रों का , स्नेहियों का संग होता था । रोने के लिए अपनों के कंधे होते थे , अपनों की गोदें होती थीं । पर अब तो मनुष्य "रोबोट" हो गया है । सभी दिन एक समान । एकाध छुट्टी हो तो दुनिया भर के काम । "अठारह सूरज के पौधे " के नायक को तो घर की जरूरत भी नहीं लगती । उसने किराये पर बम्बई में एक खाट ले रखी है । पर वहाँ कभी-कभार जाता है । ज्यादातर उसकी दिनचर्या ट्रेनों में ही बितती है । खाना-पीना-नहाना-धोना सब ट्रेन में । [55]

अलगाव की भावना :

पहले का जीवन जुड़ाव का जीवन था । मनुष्य अधिक प्राकृतिक और सहज था । परन्तु मनुष्य अब अलग हो रहा है । जुड़ाव से तुड़ाव की ओर जा रहा है । अतः भाँति-भाँति के अलगाव महानगरीय जीवन में दृष्टिगत हो रहे हैं , परन्तु उनमें से तीन मुख्य हैं -- /क/ पारिवारिक अलगाव , /ख/ वैयक्तिक अलगाव और /ग/ बौद्धिक अलगाव ।

/क/ पारिवारिक अलगाव :

युग्मक परिवार की रचना के साथ ही व्यक्ति का अपने परिवार से अलगाव हो जाता है । अब उसका जीवन समूचे परिवार के लिए न होकर केवल उसके तथा उसकी पत्नी के लिए होता है । परिवार की भावना का छेद उड़ जाता है । "अपने लोग " के

नायक , " नदी फिर बह चली " का जगलाल , "अँधेरे बन्द कमरे " का मधुसूदन , " वे दिन " का अनाम नायक , "अठारह सूरज के पौधे का अनाम नायक आदि इसके उदाहरण हैं । " पचपन खंभे लाल दीवारें " की सुषमा में परिवार-प्रतिकूलता है , परंतु परिवार से मानसिक या आंतरिक अलगाव की प्रक्रिया का प्रारंभ हो गया है ।

/ख/ वैयक्तिक अलगाव :

पारिवारिक अलगाव के बाद का दूसरा सोपान है — वैयक्तिक अलगाव । इसमें व्यक्ति अपने आप से कटने लगता है । अपने आप से भागने लगता है । पूर्ववर्ती ~~कुछ~~ पृष्ठों में व्यक्ति के अजनबी हो जाने की प्रक्रिया की चर्चा की गई है । ऐसे अजनबी व्यक्ति में वैयक्तिक अलगाव की स्थिति पायी जाती है । ऐसे लोग स्वयं अपने आप में झुंझलाते रहते हैं । उनके सामने कोई दिशा नहीं होती । ये हारे हुए , पराजित से , समग्र संसार से ऊबे हुए , चिढ़े हुए लोग प्रतीत होते हैं । इस पराजित मनोदशा से पलायन के लिए वे शराब और ड्रग्स की दुनिया में खो जाते हैं । ऐसे लोग जुआ खेलने लगते है । वेश्याओं के कोठों पर जाने लगते हैं । शरदबाबू के "देवदास" का देवदास भी एक प्रकार से इसी प्रकार का अजनबी है ।[56] "वे दिन" की रायना , "अठारह सूरज के पौधे " का अनाम नायक ( पारिवारिक अलगाव के बाद वह इस स्थिति में आ जाता है ) , "रूकोगी नहीं राधिका" की राधिका , "डाक बंगला " की इरा आदि इस प्रकार के पात्र हैं ।

/ग/ बौद्धिक अलगाव :

इस प्रकार का अलगाव प्रायः पढ़े-लिखे , सुशिक्षित , विद्वान , बुद्धिजीवी , कलाकार , कवि , लेखक आदि लोगों में

पाया जाता है । ये प्रायः अंतर्मुखी [ इन्ट्रोवर्ट ] व्यक्तित्व वाले होते हैं । जिन परिवारों में कोई एक व्यक्ति खूब पढ़-लिखकर आगे बढ़ जाता है , किसी ऊँचे पद पर आसीन हो जाता है , वह अपने परिवार से बौद्धिक-अलगाव महसूस करता है । "बचपन सँधे लाल दीवारें " की सुषमा , "टेराकोटा" की मिति , "रेखा" के प्रोफेसर प्रभाशंकर , "मछली मरी हुई" के डा. रघुवंश आदि इस कोटि में आते हैं । जिन जातियों और समाजों में उच्च-शिक्षा का अभाव पाया जाता है , उन जातियों या समाजों में यदि कोई व्यक्ति अति-शिक्षित हो जाता है और ऐसा व्यक्ति यदि अपने समाज या ~~परिवार~~ जाति से कट जाता है , तो वह इस प्रकार का अलगाव महसूस करता है । डा. अंबेडकर बीसवीं शताब्दी के अति-शिक्षित विद्वानों में आते हैं , किन्तु वे अपने समाज से कटे नहीं थे , बल्कि उनके उत्थान में रात-दिन एक कर रहे थे , अतः उनमें इस प्रकार का अलगाव नहीं पाया जाता । अन्यथा ऐसी स्थितियों में व्यक्ति बौद्धिक-अलगाव का शिकार हो जाता है । ~~[illegible]~~ "महानगर की मीता" का नायक , "मछली मरी हुई " का निर्मल , " कटा हुआ आसमान" का प्राध्यापक रमेश नौटियाल आदि इस प्रकार के बौद्धिक-अलगाव से पीड़ित पात्र हैं । ऊपर कहा गया है कि कवि, कलाकार , लेखक टाईप के लोग भी कई बार बौद्धिक-अलगाव महसूस करते हैं । "एक कटी हुई जिन्दगी : एक कटा हुआ कागज " का अनाम नायक , " लौटती लहरों की बाँसुरी " का अशोक , "रेत की मछली " का शोभन , "अँधेरे बन्दकमरे " के हरबंस और नीलिमा , "रेखा" का शिवेन्द्र धीर , "नदी के द्वीप" का भुवन , "शहर में घूमता आईना " का चेतन , "टेरा-कोटा" का रोहित , " दूसरी बार" का अनाम नायक आदि पात्र इस कोटि में आते हैं ।

"अनफिट या मिसफिट" की समस्या :

पूर्ववर्ती पृष्ठों में जिन बौद्धिक-अलगाव वाले पात्रों की बात की है, वे प्रायः स्वयं को समाज या परिवार में "अनफिट" या "मिसफिट" समझते हैं। जो अति-बौद्धिक होते हैं, अति-संवेदनशील होते हैं, अंतर्मुखी होते हैं, अपने ही खयालों में डूबे रहने वाले, सपनों में जीने वाले, नैतिकता या जीवन-मूल्यों में विश्वास रखने वाले लोग होते हैं, वे प्रायः समाज में "अनफिट" या "मिसफिट" माने जाते हैं।

हमारे समाज में भ्रष्टाचार इतना फैल गया है कि जीवन के किसी स्तर पर जीवन-मूल्यों का आग्रह रखने वाला व्यक्ति, सिद्धान्तों से समझौता नहीं करने वाला व्यक्ति, भौतिकता का त्याग करने वाला व्यक्ति प्रायः "मिसफिट" समझा जाता है। वह भीड़ का हिस्सा नहीं होता। वह बहते प्रवाह के साथ नहीं बहता। अतः यू.एस.ए. में तो ऐसे व्यक्तियों को "मिसफिट" का अवार्ड भी दिया जाता है। "यह पथ बंधु था" का श्रीधर इस कोटि में आता है। "अठारह सूरज के पौधे" का अनाम नायक, "प्रेम एक अपवित्र नदी" का विष्णुदत्त, "एक कटी हुई जिन्दगी : एक कटा हुआ कागज" का अनाम नायक, "लौटती लहरों की बाँसुरी" का अशोक, "डाक बंगला" का विमल आदि ऐसे पात्र हैं।

अकेलेपन की यंत्रणा :

महानगरीय जीवन की यह बड़ी त्रासदी है कि व्यक्ति भीड़ में भी अकेला है। पहले व्यक्ति कम लोगों को जानता था, पर जिनको जानता था, उनसे जुड़ा हुआ था। अब महानगरों में व्यक्ति अनेक लोगों को जानता है। अनेक विषयों का ज्ञान

रखता है, विश्वभर की जानकारियाँ रखता है, पर फिर भी अपनी वैयक्तिक जिन्दगी में नितान्त अकेला है। अपने इस अकेलेपन की यंत्रणा का सलीब वह खुद ढोता है। पूर्ववर्ती पृष्ठों में जहाँ नाना प्रकार के अलगाव और अजनबीपन की बातें कही गयी हैं, वहाँ प्रकारान्तर से इस यंत्रणा से गुजरने वाले पात्रों की चर्चा एक या दूसरे रूप में हो चुकी है, अतः यहाँ उसकी पुनरुक्ति को टाला गया है।

## निष्कर्ष :

अध्याय के समग्रावलोकन से हम निम्नलिखित "निष्कर्षों" तक सहजतया पहुँच सकते हैं :

{1} आज का महानगरीय व्यक्ति अकेला, खण्डित और अजनबी है। वह टूट रहा है, बिखर रहा है। प्रत्येक के अपने-अपने नरक हैं। एक तरफ भौतिकता का जहर है, तो दूसरी तरफ दरिद्रता की वैतरणी है। सबकी चिन्ता है — "यह नदी कैसे पार की जाये।"

{2} "अजनबीपन" अंग्रेजी के "एलियनेशन" {Alienation} का पर्याय है। हिन्दी में उसके लिए अलगाव, परायापन, बिलगाव, बेगानापन, बिरानापन आदि शब्द मिलते हैं। अति-भौतिकता, अति-बौद्धिकता तथा औद्योगिकीकरण और मशीनीकरण के कारण यह अजनबीपन का भाव व्यक्ति में गहराता जाता है।

{3} पश्चिम में "द आउटसाइडर" के प्रसिद्ध लेखक कॉलिन विल्सन ने "अजनबीपन" की अवधारणा पर विस्तृत विवेचन किया है। वहाँ हेगेल, फायरबाख तथा मार्क्स ने अजनबीपन की चर्चा समाज के परिप्रेक्ष्य में की है। हेगेल के चिंतन के केन्द्र में धर्म है। फायरबाख और मार्क्स धर्म-विरोधी चिंतक हैं।

(5) उपर्युक्त चिंतक-त्रयी के अतिरिक्त और उनसे अलग हटकर अजनबीपन पर विचार करते हुए कुछ लेखकों और दार्शनिकों ने वैयक्तिकता पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया । ऐसे चिंतकों में कीर्केगार्द , दोस्तोएवस्की , सार्त्र , पैट्रिक मास्टर्सन , पीटर लेस्लेट , इरिक फ्राम , जार्ज सिमेल , लुइस ममफोर्ड आदि आते हैं ।

(5) महानगरीय उपन्यासों में "वे दिन" , " अँधेरे बन्द कमरे " , "पचपन खंभे लाल दीवारें " , " रुकोगी नहीं राधिका " , "यह पथ बंधु था" , "एक कटी हुई जिन्दगीः एक कटा हुआ कागज " , "बैसाखियों वाली इमारत" , "अठारह सूरज के पौधे " , "दूसरी बार " , "मुरदाघर" , " फटा हुआ आसमान" , "रेखा" , "टेराकोटा " , "लौटती लहरों की बाँसुरी" , "मछली मरी हुई " , "डाक बंगला " , "तीसरा आदमी" , "आपका बण्टी" प्रभृति ऐसे उपन्यास ग्रंथ हैं , जिनमें अजनबीपन के भाव को रेखांकित किया जा सकता है ।

(6) भौतिकता का बढ़ता आग्रह , चीजपरस्ती , टूटते-भहराते पारिवारिक संबंध , टूटते-भहराते मानवीय संबंध , स्वार्थान्धता , स्वकेन्द्रीयता , मनुष्य का मशीनीकरण , मानवीय नातों-रिश्तों में शीत-संबंध , पारिवारिक-वैयक्तिक-आर्थिक अलगाव , व्यक्ति के "मिसफिट" होते जाने की समस्या , अकेलेपन की यंत्रणा जैसे कारणों से महानगरीय परिवेश का व्यक्ति टूट रहा है , बिखर रहा है , छिन्न-भिन्न हो रहा है ।

===== XXXXX =====

## :: सन्दर्भानुक्रम ::


﴾1﴿ जल टूटता हुआ : डा० रामदरश मिश्र : पृ० 353 ।

﴾2﴿ द्रष्टव्य : आधुनिक हिन्दी उपन्यास और अजनबीपन : डा० शिवाशंकर राय : पृ० 9 ।

﴾3﴿ द्रष्टव्य : आपका बण्टी : पृ० 204

﴾4﴿ द्रष्टव्य : एकांगी नहीं राधिका : पृ० 112 ।

﴾5﴿ वे दिन : पृ० 34 ।

﴾6﴿ आधुनिकताबोध और आधुनिकीकरण : डा० रमेशकुंतल मेघ : पृ० 223 ।

﴾7﴿ साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास : डा० पारुकान्त देसाई : पृ० 27 ।

﴾8﴿ विवेक के रंग : सं० डा० देवीशंकर अवस्थी : पृ० 302 ।

﴾9﴿ हिन्दी अनुशीलन १९८८-९९ : कबीर-विशेषांक : पृ० 252

﴾10﴿ द आउट साइडर : जेम्स जायस का उद्धरण : पृ० 49 ।

﴾11﴿ "द आउट साइडर" में नीत्शे का उद्धरण : पृ० 151 ।

﴾12﴿ आधुनिक हिन्दी उपन्यास और अजनबीपन : पृ० 15 ।

﴾13﴿ वही : पृ० 15-16 ।

﴾14﴿ उनके वक्तव्य में चुना हुआ शेर ।

﴾15﴿ टूटे लेखक के कुन्तों पर : डा० पारुकान्त देसाई : पृ० 83 ।

﴾16﴿ मैन एलोन : एलिनेशन इन माडर्न सोसायटी : में संकलित कार्ल मार्क्स का निबंध : इल्ड्रेड लेवर : पृ० 101 ।

﴾17﴿ द आउट साइडर : कालिन विल्सन : पृ० 273 ।

﴾18﴿ आधुनिक हिन्दी उपन्यास और अजनबीपन : पृ० 18 ।

﴾19﴿ संदर्भ संख्या-16 के अनुसार : पृ० 168 ।

﴾20﴿ द्रष्टव्य : हिन्दी साहित्यकोश : भाग-1 : पृ० 93 ।

﴾21﴿ सिक्स एक्ज़िस्टेन्शियालिस्ट थिंकर्स : पृ० 9 ।

﴾22﴿ युग निर्माता प्रेमचन्द तथा कुछ अन्य निबंध : पृ० 65 ।

﴾23﴿ संदर्भ संख्या- 18 के अनुसार : पृ० 19-20 ।

﴾24﴿ वही : पृ० 20 ।

§25§ आधुनिक हिन्दी उपन्यास और अजनबीपन : डा. शिवशंकर विद्याशंकर राय : पृ. 20 ।

§26§ से §28§ : वही : पृ. क्रमशः 21, 21, 21 ।

§29§ मैन एलोन : एलिएनेशन इन माडर्न सोसायटी : पृ. 146 ।

§30§ संदर्भ संख्या - 25 के अनुसार : पृ. 22 ।

§31§ अँधेरे बन्द कमरे : पृ. 124 ।

§32§ और §33§ : वही : पृ. क्रमशः 174 , 431 ।

§34§ पचपन खंभे लाल दीवारें : पृ. 68 ।

§35§ वही : पृ. 95 ।

§36§ आधुनिक हिन्दी उपन्यास और अजनबीपन : पृ. 95 ।

§37§ वही : पृ. 111 ।

§38§ "उपन्यास : स्थिति और गति " : डा. चन्द्रकान्त बांदिवडेकर : पृ. 24 ।

§39§ "एक कटी हुई जिन्दगी : एक कटा हुआ कागज " : लक्ष्मीकान्त वर्मा : पृ. 23 ।

§40§ बैसाखियोंवाली इमारत : रमेश बक्षी : पृ. 2 ।

§41§ वही : पृ. 66 ।

§42§ दूसरी बार : श्रीकान्त वर्मा : पृ. 127 ।

§43§ वे दिन : पृ. 211 ।

§44§ आधुनिक हिन्दी उपन्यास और अजनबीपन : पृ. 163 ।

§45§ आलोचना : जुलाई-सितम्बर : 1974 : पृ. 91 ।

§46§ मुरदाघर : पृ. 11 ।

§47§ से §50§ : वही : पृ. क्रमशः 13, 21, 31, 36 ।

§51§ आधुनिक हिन्दी उपन्यास और अजनबीपन : पृ. 183 ।

§52§ सूखे सेमल के वृन्तों पर : पृ. 97-98 §53§ पतझड़ की आवाजें:पृ. 95

§54§ ढहती दीवारें : पृ. 99 §55§ अठारह सूरज के पौधे : पृ. 21

§56§ द्रष्टव्य : हंस : अगस्त-2002 : पृ. 4 ।

==== xxxxx =====